परिचय

शिक्षित भारतवासी मात्र श्रीयुत स्वामी विवेकानन्द के नाम और काम से परिचित हैं। आपने वङ्ग-भूमि को अपने जन्म से पवित्र किया था और वहीं सामयिक उच्च शिक्षा प्राप्त की; जिससे आपके मानसिक भाव तो उन्नत हुए, परन्तु आत्मा की तुष्टि न हुई। अपने जीवनोद्देश के अन्वेषण में आप व्यग्र थे ही, इसी अवसर में दैवसंयोग से अथवा भारत के सौभाग्य से आपको परमहंस स्वामी रामकृष्ण जैसे सद्गुरु का आदर्श मिल गया। जैसा आपका उद्देश उच्च था, वैसा ही उच्च आदर्श भी आपको मिला। महात्मा रामकृष्णजी के उपदेश और आदर्श से आप के हृदय में ज्ञान का प्रकाश हुआ और आप सांसारिक मोह के आवरण को उल्लंघन करके यथार्थ में स्वामी विवेकानन्द बन गये।

संन्यास धारण करने के पश्चात् उक्त स्वामीजी ने पश्चिम की यात्रा की। आपकी इस यात्रा का उद्देश यह था कि अध्यात्म-विद्या की उस अमृत-धारा से (जिसका स्रोत और केन्द्र सनातन काल से भारतवर्ष रहा है) पाश्चात्य भूमि को (जो प्रकृतिवाद या देहवाद के वायु से शुष्क हो रही थी) संसिक्त और आप्लावित करें। कैसा पवित्र उद्देश था। इसके लिए उक्त महात्मा ने यूरोप और अमेरिका आदि प्रान्तों में जो कुछ उद्योग और यत्न किया, वह किसी शिक्षित

व्यक्ति से छिपा नहीं है। यह स्वामीजी के ही उपदेश का प्रभव है कि आज अमेरिका में घर घर वेदान्त की चर्चा है और वहाँ के पुरुष ही नहीं किन्तु स्त्रियाँ भी वेदान्त के रहस्य को जानने के लिए उत्कण्ठित और उत्सुक हैं। वहाँ के अनेक स्त्री-पुरुषों ने स्वामीजी से दीक्षा लेकर वेदान्त के प्रचार का व्रत धारण किया है। इसी व्रत को धारण करके मिस निवेदिता आदि कई स्त्रियाँ इस देश में भी पदार्पण कर चुकी हैं, जिनके आचार, विचार और उद्देश से यहाँ के शिक्षित समुदाय ने प्रायः अपनी सहानुभूति प्रकट की है।

उक्त महात्मा का उद्देश क्या था और उन्होंने उसकी सिद्धि के लिए क्या उद्योग किया, उनके आचार-विचार कैसे थे? इन बातों से प्रायः हिन्दी-पाठक अनभिज्ञ हैं। कारण यह कि उनका सारा वर्क (काम) देशकालानुसार अँग्रेज़ी-भाषा में है। अतः हिन्दी पाठकों के परिचयार्थ प्रशंसित स्वामीजी के कतिपय व्याख्यानों का (जो उन्होंने अमेरिका में कर्मयोग पर दिये थे) हिन्दी-अनुवाद पाठकों की भेंट किया जाता है। इससे हिन्दी-पाठक स्वामीजी के पवित्र सिद्धान्त और उच्च विचारों का अनुभव कर सकेंगे।

यहाँ पर यह निवेदन कर देना भी आवश्यक है कि यह स्वामीजी के व्याख्यानों का शब्दशः अनुवाद नहीं है। प्रत्येक भाषा का पदविन्यास और लेखनप्रणाली का क्रम भिन्न भिन्न होने से तथा एक भाषा के शब्दों का दूसरी भाषा के शब्दों में ठीक ठीक पर्याय न मिलने से उनके आशय को अपने शब्द और वाक्यों में व्यक्त करने के लिए हम बाध्य हुए हैं। ऐसा करने पर भी हमने उनके

लक्ष्य और तात्पर्य्य पर पूरा पूरा ध्यान रक्खा है और कहीं कहीं उसकी पुष्टि में अपनी तरफ़ से जो टिप्पणी की है, वह फुटनोट में देदी है। आशा है कि हिन्दी के पाठक इससे लाभ उठा कर हमको सफल-परिश्रम करेंगे।

कानपुर,
ता० ३१।१२।०६

अनुवादक
बदरीदत्त शर्मा
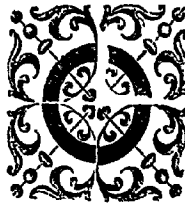
सूचीपत्र

	पृष्ठ
१—पहला अध्याय—कर्म का मनुष्य-चरित्र पर प्रभाव ...	१
२—दूसरा अध्याय—निष्काम कर्म का महत्त्व	१७
३—तीसरा अध्याय—धर्म क्या है	३४
४—चौथा अध्याय—परमार्थ में स्वार्थ	४७
५—पाँचवाँ अध्याय—बेलाग रहना ही सच्चा त्याग है ...	६१
६—छठा अध्याय—मुक्ति	८०
७—सातवाँ अध्याय—कर्म-योग का आदर्श	९८

पहला अध्याय

कर्म का मनुष्य के चरित्र पर प्रभाव

कर्म एक संस्कृत भाषा का शब्द है जो "कृ" धातु से "मन्" प्रत्यय होकर बनता है। "क्रियते यत्तद् कर्म" जो किया जाय उसको कर्म कहते हैं। व्यवहार में कर्म के फल को भी 'कर्म' शब्द से व्यपदेश किया जाता है। कर्म का विस्तार और महत्त्व यहाँ तक ही सीमाबद्ध नहीं है, किन्तु इसके विशाल वृत्त में कार्य्य और कारण-रूप से वे सब कर्म और उनके विपाक समा जाते हैं जो हमारे भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीनों कालों के जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। परन्तु जहाँ तक कर्मयोग का सम्बन्ध है वहाँ तक हमारा तात्पर्य्य केवल वर्त्तमान जन्म के कर्मों तक सीमाबद्ध रहेगा।

प्रत्येक मनुष्य के जीवन का उद्देश्य विवेक अर्थात् ज्ञान है। पूर्वीय दर्शन-साहित्य ने केवल ज्ञान को ही मनुष्य का अभीष्ट सिद्ध किया है। जो लोग सुख या आराम को मनुष्य-जीवन का उद्देश्य

समझते हैं, वे बड़ी भूल में हैं, क्योंकि सुख का अन्त होता है और उसके पश्चात् दु:ख अवश्यम्भावी है। संसार में जितने दु:खमय दृश्य दिखाई दे रहे हैं, इन सबका कारण केवल यही है कि मनुष्य ने भ्रान्ति से सुख को अपने जीवन का उद्देश्य मान रक्खा है। थोड़े काल में ही विचार करने से मनुष्य को अनुभव होने लगता है कि उसकी गति सुख की ओर नहीं किन्तु ज्ञान की ओर है। हाँ सुख और दु:ख दोनों अपने अपने स्थान पर शिक्षक का काम देते हैं। भलाई और बुराई दोनों ही से मनुष्य का अनुभव बढ़ता रहता है। यद्यपि सुख और दु:ख दोनों परिवर्तन-शील हैं, वे एकसी अवस्था में कभी स्थिर नहीं रह सकते,तथापि अपना यौगिक प्रभाव मनुष्य के अन्त:करण पर छोड़ जाते हैं और इसी यौगिक प्रभाव के संघात का नाम मनुष्य का चारित्र्य (कैरेक्टर) है। यदि आप किसी व्यक्ति-विशेष के चारित्र्य को निरीक्षण करें तो आपको विदित होगा कि उसका चारित्र्य सिवा उसकी अन्त:करण की वृत्तियों और वासनाओं की राशि के और कुछ भी नहीं है। इसको देख कर तुम भली भाँति समझ जाओगे कि इस चारित्र्य के बनाने में पुण्य, पाप, शुभ, अशुभ और सुख दु:ख इन सबने बराबर भाग लिया है। किन्तु विशेष दशाओं में सुख की अपेक्षा दु:ख ने चारित्र्य-सङ्गठन में सच्चे शिक्षक का काम किया है। संसार में जितने प्रसिद्ध महा-पुरुष हुए हैं यदि ध्यान देकर उनके जीवन-चरित्र पढ़ोगे तो तुमको मालूम होगा कि दु:ख ने विशेष कर उनके जीवन को उच्च और उदार बनाने में बहुत बड़ा काम किया है। दु:ख ने सुख की अपेक्षा उनको उत्तम शिक्षायें दीं, निर्धनता ने सधनता की अपेक्षा

उनको परिश्रमी और सहनशील बनाया। निन्दा और अनादर के थपेड़ों ने प्रशंसा और श्लाघा की अपेक्षा उनकी छिपी हुई आन्तरिक योग्यता को अधिक उभरने का अवसर दिया।

यह ज्ञान, यह विवेक, यह विद्या, मनुष्य में कहीं बाहर से नहीं आई, किन्तु उसका आत्मा स्वयमेव ज्ञान का अधिकरण है। सब कुछ उसमें भरा पड़ा है। मनुष्य के आत्मा में संपूर्ण विद्याओं और कलाओं का कोष छिपा हुआ है, उनका सीखना वास्तव में उन आवरणों को हटा देना है, जिन्होंने आत्मा के उस प्रकाश को ढका हुआ है। आत्मा के आवरणों को हटा दो, ज्ञान की ज्योति प्रज्व-लित देख पड़ेगी। सीखना, पढ़ना आदि पारिभाषिक शब्द हैं। कहा जाता है कि न्यूटन* ने आकर्षण शक्ति के सिद्धान्त को अनु-भव किया। क्या यह सिद्धान्त किसी कोने में छिपा हुआ न्यूटन की प्रतीक्षा कर रहा था? नहीं। इस सिद्धान्त का अंकुर उसके हृदय में वर्त्तमान था जो अन्य संस्कारों से दबा हुआ पड़ा था। समय आया और फल-पतन रूप कर्म की रगड़ से वह आग, जो दबी हुई पड़ी थी, एकाएक प्रज्वलित हो गई। जो कुछ ज्ञान संसार में फैला हुआ है वह सब मनुष्य के आत्मा से निकला है। तुम्हारा

---

* सर आईज़िक न्यूटन एक पाश्चात्य दार्शनिक हुआ है, जिसने पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति का पता लगाया। जब वह अपनी वाटिका में बैठा हुआ था, वृक्ष से एक सेब गिरा। वह उसके पतन के कारण का अनुसन्धान करने लगा और इस परिणाम पर पहुँचा कि पृथ्वी प्रत्येक वस्तु को अपनी ओर खींचती है।

हृदय सृष्टि के असंख्य पदार्थों का अपरिमित कोष है। बाह्य जगत् केवल सांकेतिक है, उसके संकेतों को पाकर तुम अपने अन्त:करण की परताल करने लगते हो। तुम्हारा अन्त:करण ही वास्तव में तुम्हारी शिक्षा-पुस्तक है। वृक्ष की शाखा से सेब गिरा, न्यूटन के अन्त:करण को एक संकेत मिल गया और वह अपने मन में विचार करने लगा। उसने अपने पूर्व संस्कारों की शृङ्खला में एक नवीन कड़ी देखी और उसी का नाम आकर्षण-शक्ति रख लिया। यह ज्ञान न तो सेब में था और न पृथ्वी में; किन्तु उसके हृदय में था। वस्तुत: प्रत्येक ज्ञान (चाहे वह बाह्य हो या आन्तरिक, सांसारिक हो या आध्यात्मिक) मनुष्य के अन्त:करण में रहता है। किन्हीं मनुष्यों में वह ढका हुआ रहता है, उसका आवरण शीघ्र नहीं उतरता। जब शनै: शनै: यह आवरण उतरने लगते हैं, तभी यह कहा जाता है कि हम सीख रहे हैं। मनुष्य की ज्ञानोन्नति में उत्तरोत्तर यही रहस्य काम करता रहता है। जिस मनुष्य के आवरण टूट जाते हैं वही तत्त्वज्ञानी और विवेकी हो जाता है और जिसके बने रहते हैं, वह अज्ञानी और मूर्ख कहलाता है। जिसके समस्त आवरण टूट गये, वह सर्वज्ञ बन जाता है। संसार में ऐसे बहुत से सर्वज्ञ हुए हैं और इस कल्प में भी उत्पन्न होंगे।

जिस प्रकार पत्थर में आग रहती है उसी तरह अन्त:करण में ज्ञान रहता है। जैसे बाहर की रगड़ पाकर पत्थर में से आग झड़ने लगती है, वैसे ही बाह्य कर्म के संघर्षण से ज्ञानाग्नि प्रदीप्त होता है, तथा शिक्षा और उपदेश के इन्धन से बढ़ता जाता है। हमारे सारे

संस्कारों, कर्मों और वासनाओं में यही नियम काम कर रहा है। हमारा हर्ष और शोक, निन्दा या स्तुति, सुख या दुःख, शुभ या अशुभ जो कुछ भी परिणाम होता है वह सब इसी नियम की सत्यता को प्रकट कर रहा है। यदि हम तनिक गम्भीर दृष्टि से अपने स्वरूप की परताल करने लगें तो यह भेद अभी खुल जावे कि सारी रचनायें (चाहे आध्यात्मिक हों या आधिभौतिक) बाह्य संकेतों से उद्बोधित हो कर हमारे भीतर से निकली हैं, जिनका परिणाम हमारी वर्त्तमान अवस्था और वर्त्तमान जीवन है। इन सबके संघात का नाम कर्मयोग है।

ये बाह्य संकेत, जो हमारे आत्मा के उद्बोधक हैं, वास्तव में कर्म ही हैं। हम जब तक जीवित रहते हैं, कुछ न कुछ कर्म करते ही रहते हैं। मैं तुमसे बात चीत कर रहा हूँ, यह कर्म है। तुम ध्यान दे कर सुन रहे हो, यह भी कर्म है। श्वास लेना, चलना, फिरना, बोलना ये सब कर्म हैं। जो कुछ हम करते हैं, जो कुछ हम सोचते हैं, जो कुछ हम समझते हैं; ये सब कर्म ही कहलाते हैं। और ये सब कर्म अपनी स्मृति का प्रभाव हम में छोड़ जाते हैं।

कोई कोई कर्म ऐसे हैं जो बहुत से और भिन्न भिन्न कर्मों के संघात होते हैं। यदि हम समुद्र के तट पर खड़े होकर तटस्थ चट्टानों से लहरों के टकराने का शब्द सुनें तो हमको मालूम होगा कि बड़े ज़ोर की आवाज़ आ रही है। ये लहरें एक एक नहीं हैं किन्तु अगणित छोटी छोटी लहरें आपस में मिल गई हैं। जब तक ये सब लहरें मिल कर समष्टिरूप से चट्टान से नहीं टकरातीं, तब तक हम इनकी आवाज़ नहीं सुन सकते। यही दशा तुम्हारे हृदय

के धड़कने की है। इसमें भी कर्मों के संघात का प्रभाव काम कर रहा है। बहुत से कर्म जो छोटे छोटे कर्मों के संघात से बनते हैं, उनको हम अनुभव भी करते हैं। यदि तुम किसी बड़े आदमी के आचरण को जाँचना चाहते हो तो उसके बड़े-बड़े कामों को मत देखो। मूर्ख से मूर्ख और निर्बुद्धि से निर्बुद्धि मनुष्य भी किसी न किसी समय महान् और बुद्धिमान् बन जाता है। हमको मनुष्य के साधारण कामों को देखना चाहिए। प्रात्यहिक छोटे छोटे और तुच्छ कामों को देख कर उसके आचरण का पता लग जायगा। क्योंकि यही काम उसकी मानसिक वृत्तियों को बनाते रहते हैं। कभी कभी ऐसा भी देखने में आता है कि छोटे छोटे आदमी समय पाकर बड़े बन जाते हैं। यथार्थ में बड़ा आदमी वह है जो प्रत्येक दशा में बड़ा है और जहाँ कहीं भी जिस दशा में नियुक्त किया जावे, वहाँ उस दशा में बड़ाई के काम करता रहे।

मनुष्य के आचरण पर कर्म का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव ऐसा बलिष्ठ होता है कि इसका रोकना बड़ा कठिन है। यों समझ लो कि इस संसार के वृत्त में मनुष्य एक केन्द्र है, जो संसार की सारी शक्तियों को अपनी ओर खींच रहा है। खींच कर और सबको मिला कर फिर उनको भारी लहर या धार के स्वरूप में फेंक देता है। मनुष्य में बल है और ज्ञान है, जिससे वह संसार को अपनी ओर खींचे हुए है। पुण्य-पाप, सुख-दुःख सब इसी की ओर खिँचे हुए हैं और इसी से चिपटे हुए हैं। इन्हीं साधनों से यह अपनी मानसिक वृत्तियों की तरङ्ग-पूर्ण धारा को बनाता है, जिसको चरित्र (कैरेक्टर) कहते हैं। और फिर इसको बाहर

की ओर फेंक देता है। जहाँ इसमें भीतर की ओर खींचने की शक्ति है वहाँ बाहर की ओर फेंकने में भी यह कुशल है।

संसार के समस्त व्यवहार, मनुष्य-समाज के सम्पूर्ण प्रस्ताव और हमारे आस पास जो कुछ हो रहा है यह सब, मनुष्य के विचार का फल और मानसिक शक्ति का चमत्कार है। यन्त्र या औज़ार, नगर या जहाज़ ये सब मनुष्य की विचार-शक्ति से उत्पन्न हुए हैं। यह विचार-शक्ति चारित्र्य से बनती है और चरित्र का उत्पादक कर्म है। जैसा कर्म होगा, वैसा ही चरित्र बनेगा और जैसा चरित्र बनेगा, वैसी ही मानसिक शक्ति उत्पन्न होगी। संसार में बलवान और प्रभावशाली वे लोग हुए हैं, जो बड़े बड़े काम करने वाले थे। इनकी मानसिक शक्ति भी विचित्र थी, जिससे आन की आन में संसार की काया पलट गई। यह मानसिक शक्ति इनमें लगातार काम करने से पैदा हुई थी। क्या बुद्ध देव आदि जैसे व्यक्तियों की मानसिक शक्ति एक जन्म के कर्म का फल थी ? नहीं। संसार को मालूम है कि बुद्ध का बाप किस प्रकार का मनुष्य था। कोई नहीं बतला सकता कि उसने अपने जीवन में कोई काम भी मनुष्य की भलाई के लिए किया हो। बुद्ध* के पिता एक छोटे से मण्डल के अधीश्वर थे, उनके जैसे मण्डलेश लाखों इस पृथ्वी पर हो चुके हैं। यदि यह कहा जावे कि मनुष्य में मानसिक शक्ति माता-पिता के अंश से आती है तो आप कैसे स्वीकार करेंगे कि बुद्ध के जैसी

* बुद्ध के पिता का नाम शुद्धोदन था, जो कपिलवस्तु का एक माण्डलिक राजा था। उसकी रानी अर्थात् बुद्ध देव की माता का नाम मायादेवी था।

प्रबल मानसिक शक्ति एक साधारण राजा के अंश से परिणत हुई थी। सम्भव है कि उसके सेवक और चाकर ही उसकी आज्ञा का पालन न करते हों। परन्तु यहाँ देखिए उसके पुत्र का प्रताप और गौरव विलक्षण है। आधा संसार अब तक उसके नाम की उपासना कर रहा है। बुद्ध में यह प्रबल मानसिक शक्ति कहाँ से आई ? पैतृक अंश (क़ानून विरासत) से कभी इस प्रश्न की मीमांसा नहीं हो सकती। जब हम देखते हैं कि अयोग्य पिताओं से योग्य पुत्र और योग्य पिताओं से अयोग्य पुत्र उत्पन्न हुए हैं, तब हम पैतृक अंश को कैसे इसका कारण मान सकते हैं ? यह कभी एक जन्म का काम नहीं है। किन्तु इस शक्ति के विकास में हज़ारों जन्म लगे होंगे; लाखों वर्ष तक क्रमशः यह उन्नति होती रही, अन्त में जा कर बुद्ध के आकार में संसार को उसका परिचय मिला और इतनी शताब्दियों के बीत जाने पर भी अब तक उसका प्रभाव वैसा ही वर्तमान है।

और, यह सिद्धि त्याग से प्राप्त होती है, परन्तु जब तक कुछ पास न होगा, त्याग कोई क्या और किसका करेगा ? अतएव जो मनुष्य कमाई नहीं करता, उसको कुछ नहीं मिलता। यह सृष्टि का नियम है और यह नियम सर्वत्र काम कर रहा है। कोई मनुष्य धनवान् होने के लिए आयु भर लाखों छल-छिद्र करता रहे, हज़ारों को धोखा दे; पर अन्त में उसे मालूम हो जाता है कि धन पर उसका कोई अधिकार नहीं था और इस लिए उसका जीवन दुःख और अशान्ति का जीवन बना रहा। हम भौतिक ऐश्वर्य और शारीरिक सुख के चाहे जितने सामान इकट्ठे करते चले जावें, पर

हमारा अपना अधिकार केवल उस पर होता है जिसको हमने अपने परिश्रम से उपार्जन किया हो। मूर्ख लोग हज़ारों पुस्तकों से अपने पुस्तकालय को भर देते हैं, परन्तु वे पढ़ उन्हीं को सकते हैं जिनको पढ़ने का उन्हों ने अधिकार प्राप्त किया है और यह अधिकार हमको अपने कर्मों से मिलता है। हमारे कर्म ही हमारे भाग्य और अधिकार की व्यवस्था किया करते हैं। हम अपनी वर्त्तमान सत्ता, वर्त्तमान अवस्था, और वर्त्तमान दशा के आप ही निर्माता और उत्तरदाता हैं। हम जो कुछ होना चाहते हैं, उसकी इच्छा ही नहीं, किन्तु शक्ति भी हममें है। यदि हमारी वर्त्तमान दशा हमारे पिछले जीवन के कर्मों का फल है तो इससे सिद्ध हो सकेगा कि आगे चल कर हम जैसे बनने की इच्छा करेंगे या जैसे बनने की हममें शक्ति है, हम वैसे ही बन जावेंगे। इसलिए हमको यह जान लेना चाहिए कि कौन से कर्म हमारे लिए हितकर हैं? यदि कहो कि कर्म के विषय में विचार करने या उसके जानने की क्या आवश्यकता है? क्योंकि प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी प्रकार के कर्म कर रहा है*

---

* केवल यह जान लेने से कि कुछ न कुछ कर्म हम करते ही रहते हैं और बिना कर्म के कोई नहीं रह सकता, मनुष्य का काम नहीं चल सकता। क्या वह मनुष्य जो यह समझ कर कि भोजन मुझे करना ही है और बिना इसके नहीं बीतेगी, जो कुछ सामने आ जाय उसे खाने लगे, मूर्ख नहीं कहलावेगा? भोजन हमारे लिए आवश्यक है तभी तो हमें इसके सम्बन्ध में यह जानने की आवश्यता है कि यह खाद्य है, समयानुकूल है और इसके पचाने की हममें शक्ति है, इसी प्रकार जब कर्म भी हमारे लिए आवश्यक है तो उसके सबन्ध में हमको उसकी कर्त्तव्यता, परिणाम, देशकालानुकूलता और अपनी योग्यता तथा शक्ति का विचार अवश्यमेव करना चाहिए। [अनुवादक]

स्मरण रक्खो इस प्रकार की बातों से काम नहीं चलता। कर्म के सम्बन्ध में भगवद्गीता का उपदेश है कि विचार और बुद्धिमत्ता के साथ कर्म करने चाहिएँ। कर्म करने से पहले कर्मकर्त्ता को यह जान लेना चाहिए कि यह कर्म, जिसको मैं करना चाहता हूँ, कर्त्तव्य है या अकर्त्तव्य? इसका परिणाम क्या होगा? इत्यादि। गीता में जहां कहीं केवल कर्म के लिए प्रेरणा की गई है, उसका अभिप्राय यह है कि मन की, शक्ति जो दबी पड़ी है, उभर खड़ी हो और सोया हुआ आत्मा जाग उठे। यह शक्ति प्रत्येक मनुष्य के मन में है और ज्ञान भी उसके आत्मा में है। कर्म के मुद्गर की चोट बराबर इसलिए लगाई जाती है कि वह आलस्य की निद्रा को त्याग कर कर्म करने के लिए उद्यत हो जावे।

मनुष्य किसी न किसी प्रयोजन को सामने रख कर कर्म करता है। कोई कर्म ऐसा नहीं होता, जिसका कुछ न कुछ प्रयोजन न हो। जो ख्याति के भूखे हैं, वे प्रसिद्धि (नामवरी) के लिए कर्म करते हैं। जो धन की चाह रखते हैं, वे धन की प्राप्ति के लिए कर्म करते हैं। जिनको अधिकार और आधिपत्य की भूख है, वे इनके लिए कर्म करते हैं। कोई स्वर्ग की इच्छा रखते हैं, उनके कर्म स्वर्ग-प्राप्ति के लिए होते हैं। कोई मनुष्य चीनियों की तरह अपने पीछे नाम छोड़ जाना चाहते हैं। चीन में यह दस्तूर है कि मरने के बाद मनुष्य को उपाधि दी जाती है। चीनियों में जब कोई अच्छा कर्म करता है तब उसके मुर्दा बाप-दादा को उपाधि मिलती है। किन्हीं लोगों की यह कामना होती है कि मरने के बाद उनकी कब्र पर विशाल मन्दिर बनाया जावे, वे इसी के लिए कर्म करते हैं। कोई

पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए कर्म करते हैं। पहले बुरे कर्म किये, फिर एक मन्दिर बनवा दिया। पूजारी को कुछ भेंट दे दी और स्वर्ग के अधिकारी बन गये। निदान कर्म करने के भिन्न भिन्न और असंख्य प्रयोजन हैं।

किन्तु सब से उत्तम बात यह है कि मनुष्य कर्म को केवल कर्म समझ कर करे। प्रत्येक देश में ऐसे धर्मात्मा पुरुष होते हैं, जो न ख्याति के भूखे हैं न नाम के और न स्वर्ग की इच्छा रखते हैं; परन्तु कर्म बराबर करते रहते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि निष्काम कर्म का परिणाम सदा अच्छा ही होता है* ऐसे मनुष्य भी संसार में वर्त्तमान हैं जो पवित्र और उच्च भावों को धारण किये हुए दीनोद्धार और परोपकार में अपने जीवन को लगाते हैं और यही उनके जीवन का उद्देश होता है।

जो लोग प्रसिद्धि और बड़ाई के लिए कर्म करते हैं, उनको कर्म

---

* वेद में भी जहाँ मनुष्य को यावज्जीवन कर्म करने की आज्ञा दी गई है, वहाँ कर्म को केवल कर्म समझ कर ही करने की आज्ञा है। क्योंकि सकाम (किसी प्रयोजन या फल को लक्ष्य में रख कर) जो कर्म किये जाते हैं, वे मनुष्य के सांसारिक बन्धनों के हेतु होते हैं। परन्तु जो कर्म निष्काम, बिना फल की आशा के, कर्म को केवल कर्त्तव्य समझ कर, किये जाते हैं (यद्यपि फल उनका भी होता है और कर्त्ता को भोगना भी पड़ता है, तथापि) वे मनुष्य के बन्धन के कारण नहीं हो सकते। प्रत्युत मुक्ति के लिए उपयोगी होते हैं।

[अनुवादक]

का फल देर में मिलता है। बहुधा हमको बड़ाई या नामवरी उस समय मिलती है, जब हम बूढ़े हो जाते हैं और जीवन लगभग मरणासन्न ही हो जाता है। यदि मैं अपने सारे आयु भर ख्याति के लिए कर्म करता रहूँ तो अन्त में देखूँगा कि मुझको बहुत ही कम लाभ हुआ है। इसी प्रकार और और प्रयोजनों के लोभ से जो कर्म करते हैं, उनकी भी यही दशा है। हाँ, जो बिना किसी प्रयोजन के कर्म करता है, उसका फल अनन्त और अमिट है। यदि कहो कि जब उसकी कोई इच्छा ही नहीं तो उसे क्या फल मिलेगा और न उसने फल के लिए कर्म किया है। कर्त्ता की फल में बुद्धि न होने से कर्म निष्फल नहीं हो जाता। प्रत्युत फल की आशा से जो कर्म किया जाता है, उसकी अपेक्षा उसमें हज़ार गुना फल देने की शक्ति हो जाती है। कठिनता यह है कि मनुष्य अधीर हो जाता है, जिस से दृढ़ता के साथ लगातार कर्म नहीं करता। मनुष्य की आध्यात्मिक दशा पर दृष्टिपात करने से भी निष्काम कर्म का मूल्य अधिक जँचता है। प्रेम, सत्यता और त्याग ये आत्मा के केवल बाह्य लिङ्ग नहीं हैं, किन्तु वास्तव में हमारे जीवन के सब से उच्च आदर्श हैं। इनको धारण करने से हृदय के भाव शुद्ध और मानसिक शक्ति प्रबल होती है। जो मनुष्य निष्काम कर्म करेगा और मन को वश में रक्खेगा उसके कर्म बड़े प्रभावशाली होंगे। क्योंकि आत्म-संयम सम्पूर्ण बाह्य क्रियाओं से अधिक महत्त्व रखता है। कल्पना करो कि चार घोड़ों की गाड़ी बड़े वेग से दौड़ी चली जा रही है; साईस घोड़ों को लगाम खींच कर रोक रहा है। बताइए किसमें अधिक बल है? घोड़ों के वेग से दौड़ने में या साईस के रोकने में? एक गेंद हवा

में उछल कर कुछ दूर जाती है फिर पृथिवी पर गिर पड़ती है। दूसरी दीवार से टकरा कर वहीं की वहीं रह जाती है। यही दशा समस्त सकाम और स्वार्थ के कर्मों की है। इन सब कर्मों का यह परिणाम होगा कि शीघ्र या देर में ये सब विलीन हो जावेंगे और फिर तुम्हारे पास लौट कर न आवेंगे। परन्तु यदि अपने मन को रोका जावे तो अपने आप आत्मा की शक्ति बढ़ेगी। निष्काम कर्म करना यथार्थ में अपने मन को रोकना है। इस प्रकार के संयम से आत्मा सुशिक्षित होता है और बुद्धि की जैसी प्रबल मानसिक शक्ति रखनेवाली व्यक्तियाँ प्रकट होती हैं। साधारण जन इस रहस्य को नहीं समझते, पर उनको अन्य मनुष्यों पर अधिकार जमाने या शासन चलाने की इच्छा रहती है। कुछ काल धैर्य रक्खो और इस बाह्य अधिकार की वासना को जो तुम्हें भ्रान्ति में डालती है, रोको और जब तुम अपनी इस इच्छा को रोकने में समर्थ हो सकोगे तब तुम संसार पर अपना अधिकार कर सकोगे। मनुष्य थोड़े से स्वार्थ के लिए लोगों को धोखा देता है, अनर्थ करता है। यदि वह कुछ दिन अपने आप को संयम में रख सके तो सारे संसार को अपनी ओर आकर्षित कर सकता है। परन्तु हम सब लोग भूले हुए हैं, हममें से बहुत से मनुष्यों की दृष्टि कुछ वर्षों से आगे नहीं जाती। जैसे पशुओं को थोड़ी दूर तक अपने आगे के सिवा और कुछ दिखलाई नहीं देता। वैसी ही हमारी दशा है। हमारा संसार बहुत ही संकीर्ण और हमारे विचार अत्यन्त ही क्षुद्र हैं। हमारी आत्मीयता केवल अपने कुटुम्ब या अधिक से अधिक सम्बन्धियों तक परिमित है। इससे अधिक देखने की न हममें शक्ति है

और न सुध है। यही कारण है कि हम दुराचारी और दुश्चरित्र बन जाते हैं।

छोटे से छोटे काम को भी तुच्छ दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। जिस मनुष्य के संस्कार अच्छे नहीं हैं, वह ख्याति के लिए या किसी और प्रयोजन से ही कर्म करे, आलसी होकर न बैठे। प्रत्येक मनुष्य को यह स्मरण रखना चाहिए कि हमारा उद्योग का पैर आगे की ओर बढ़ा चले और कर्म करते हुए (चाहे किसी उद्देश्य से करे) हम उसके तत्त्व को भी समझते जावें कि कर्म क्या है और उसका अभिधेय क्या है? और यह बात भी हमको जान लेनी चाहिए कि केवल कर्म के करने का हमको अधिकार है, उसके फल या विपाक को (यद्यपि वह अवश्य होगा) अपनी इच्छानुसार बनाने का हमको अधिकार नहीं है। फल की इच्छा को त्याग दो। जब किसी मनुष्य की सहायता करने का अवसर आवे, कभी यह बात ध्यान में न लाओ कि उसका बर्ताव तुम्हारे साथ कैसा रहा है। यदि तुम कोई उत्तम या महान् कर्म करना चाहते हो तो इस कर्म का फल हमारे अनुकूल होगा या प्रतिकूल? कभी भूल कर भी इसकी चिन्ता न करो।

धर्म के उक्त आदर्श तक पहुँचना एक बड़ा कठिन काम है। सबसे पहले अभ्यास की आवश्यकता है। हमको चाहिए, नित्य कर्म का अभ्यास करते रहें। कोई मनुष्य एक क्षण भर भी बिना कर्म के नहीं रह सकता। जिसको शान्ति और सुख कहा जाता है उसका समझना कोई सहज काम नहीं है। एक मनुष्य प्रवृत्ति-मार्ग के आन्दोलन में हाथ पाँव मारता हुआ जब कभी सामाजिक जीवन के गम्भीर आवर्त्त (भँवर) में पड़ता है, डूबने लगता है।

दूसरा मनुष्य जिसने निवृत्ति-मार्ग का आश्रय लेकर संसार को त्याग देने का प्रण कर लिया है, प्रत्येक वस्तु उसे तुच्छ और असार दीख पड़ती है। परन्तु इन दोनों में से कोई भी आदर्श का काम नहीं दे सकता। यदि कोई अयोग्य मनुष्य झूठे त्याग और वैराग्य की आड़ लेकर त्यागी तथा वैरागी बन जावे तो जब कभी संसारावर्त्त की लहरों के थप्पड़ उस पर पड़ने लगेंगे, तब वह इकबारगी कुचल दिया जायगा। जो मछलियाँ समुद्र के तल में रहती हैं, यदि कभी भूल से ऊपर चली आती हैं तो लहरों के तमाचे खाकर टुकड़े टुकड़े हो जाती हैं। उनका कहीं पता नहीं मिलता। इसी प्रकार जो लोग सदा एकान्त में रहते हैं और कर्म नहीं करते, ज़हाँ संसार के साथ उनकी मुठभेड़ हुई, और पतित हुए। "धोबी का कुत्ता घर का न घाट का"।

इसी प्रकार जो रात दिन सांसारिक आन्दोलन में व्यस्त रहता है वह कदापि एकान्त-सेवन का अधिकारी नहीं। वह यथार्थ में विक्षिप्तालय (पागलखाने) भेजने योग्य है। सच्चा और सिद्धान्ती पुरुष वह है जो चुपचाप एकान्त-वास करता हुआ भी कर्म से कभी उपराम नहीं करता। एवं रात दिन सांसारिक आन्दोलन और क्रिया-कलाप में तत्पर रहता हुआ भी मनोनिग्रह और आत्म-संयम द्वारा यथार्थ में एकान्त सेवन करता है। क्योंकि जिसका मन एकान्त होगया है, स्थान की अनेकान्तता उसके उद्देश में बाधा नहीं डाल सकतीं। हाँ, जिसका मन ही अनेकान्त है, स्थान की एकान्तता उसे कुछ लाभ नहीं पहुँचा सकती। जिसने अपने मन को एकाग्र कर लिया, मानो जगत् को जीत लिया। वह जन-समूह

में रहता हुआ भी, जहाँ लोगों के कलकल शब्द से कान बहरे होते हैं, शान्त-चित्त रहता है। उसका मन माना किसी योगी की गुफा है, जहाँ कोई शब्द नहीं पहुँच सकता। वह इस दशा में भी कर्म से विमुख नहीं है। यह कर्मयोग का स्वरूप है। यदि तुमने इस आदर्श को प्राप्त कर लिया है तो तुम कर्म के रहस्य को समझ गये हो।

किन्तु हमको आरम्भ में भिन्न भिन्न कामों को हाथ में लेकर क्रमशः उन्नति करनी है। जैसे शनैः शनैः हम आगे बढ़ते चले जावेंगे; वैसे ही दिन प्रति दिन हम उदार और संयमी बनते चले जावेंगे। जिस कर्म को हमने कर्त्तव्य या अपनी दशा के अनुकूल समझ कर स्वीकार किया है, दृढ़ता और परिश्रम के साथ विश्वास-पूर्वक हमें उसे करते रहना चाहिए। इस प्रकार नियमपूर्वक कर्म करने से एक वर्ष के भीतर ही हमारी दशा बहुत कुछ बदल जायगी। जो कुछ थ के संस्कार हमारे मन में होंगे वे अभ्यास की अग्नि में जल ंगे और थोड़े ही दिनों के पश्चात् हम निष्काम कर्म के महत्त्व को समझ जावेंगे। कभी कभी यदि स्वार्थ-बुद्धि उत्पन्न भी होगी तो हम सहज में उसे दबा सकेंगे। यदि इसी प्रकार काम होता रहा जैसे बहते हुए नदी-नाले समुद्र में पहुँच जाते हैं, वैसे ही एक सा समय हमारे जीवन में भी आ जायगा, जब कि हम बिल्कुल शान्त और निष्काम हो जावेंगे। और, जब हममें काम-वासना न रहेगी तो हमारे संपूर्ण संस्कार और शक्तियाँ बाहर क्षीण न होकर हमारे भीतर ही सञ्चित होने लगेंगी। तब आप ही आप हमारे हृदय में ज्ञान का प्रकाश होगा और हम सत्य के दर्शन कर सकेंगे।

दूसरा अध्याय
निष्काम कर्म का महत्त्व

दूसरों को शारीरिक सहायता देना और उनकी शारीरिक आवश्यकताओं को पूरा करना बहुत अच्छा काम है। परन्तु वह सहायता, जो आवश्यकतानुसार दी जाती है, सर्वोपरि सिद्ध हुई है। उसका प्रभाव नित्य और दूरगामी है। वह व्यक्तियों को लाभ पहुँचाती हुई जातीय आवश्यकताओं को भी पूर्ण करती है। यदि एक घण्टे के लिए किसी मनुष्य की कोई आवश्यकता पूरी कर दी जाय तो यह सहायता अवश्य कहलावेगी। किन्तु यदि एक वर्ष के लिए उसकी आवश्यकता पूरी कर दी गई है, तो यह उसकी अपेक्षा अधिक सहायता मानी जावेगी। और, यदि, सदा के लिए (जीवन भर के लिए) उसकी आवश्यकता पूरी कर दी गई तो फिर इसका क्या कहना है। यह सबसे बड़ी और सबसे उत्तम सहायता है। आत्मिक ज्ञान ही एक ऐसी वस्तु है जिससे सदा के लिए हमारे दुःखों की समाप्ति हो जाती है। और प्रकार के ज्ञान से केवल थोड़ी देर के लिए हमारी तृप्ति हो जाती है। केवल अपने स्वरूप का ज्ञान ही हमें सदा के लिए दुःखों से मुक्ति दिलाता है। इसलिए आत्मिक सहायता सबसे बड़ी और प्रधान सहायता है। जो मनुष्य इस प्रकार की आत्मिक सहायता दे सकता है, वह

मनुष्य-समाज का सच्चा मित्र और सच्चा गुरु है। इतिहास हमें बतला रहा है कि जिन लोगों ने मनुष्य की आत्मिक आवश्यकताओं के पूरा करने का प्रबन्ध और यत्न किया है वे बड़े प्रभावशाली पुरुष हुए हैं, और उन्होंने संसार की काया पलट दी है। वास्तव में आत्मिकता ही हमारे जीवन के सारे कर्मों की कुञ्जी है। आत्मिक बल-युक्त पुरुष यदि चाहे तो अन्य विषयों में भी असाधारण सफलता प्राप्त कर सकता है। बिना आत्मिक बल के सांसारिक और शारीरिक आवश्यकतायें भी यथेष्ट पूर्ण नहीं हो सकतीं। आत्मिक सहायता के पश्चात् बुद्धि और मन की सहायता है। शिक्षा और ज्ञान की सहायता, भोजन और वस्त्र की सहायता से कहीं अधिक है। यह प्राण-रक्षा और जीवन-दान से भी अधिक आवश्यक है। क्योंकि मनुष्य के जीवन का वास्तविक उद्देश ही विद्या और ज्ञान की प्राप्ति करना है। अज्ञान मृत्यु है और ज्ञान ही जीवन है। यदि मनुष्य अज्ञान के कारण अँधेरे में भटकता और टटोलता फिरता है तो उसका जीवन व्यर्थ ही नहीं किन्तु दुःखदायक है। इसके बाद फिर शारीरिक सहायता का नम्बर आता है। इसलिए दूसरों की सहायता करते समय हमको कभी इस भूल में न पड़ना चाहिए कि केवल शारीरिक सहायता ही सब कुछ है। शारीरिक सहायता सबसे पिछली है; क्योंकि इससे स्थिर सुख नहीं मिलता। भूख का दुःख खाना खा लेने से शान्त हो जाता है, पर थोड़ी देर बाद फिर हमें भूख सताने लगती है। हमको शान्ति या सन्तोष तभी हो सकता है जब कि सदा के लिए हमारी आवश्यकतायें पूरी हो जावें। और यह केवल

आत्मिक ज्ञान से सम्भव है। इसलिए ज्ञान की सहायता सबसे बड़ी सहायता है।

संसार के दुःख केवल शारीरिक सहायता से दूर नहीं हो सकते। जब तक मनुष्य अपने मन का संयम और इन्द्रियों का निग्रह नहीं करता, तब तक उसे शारीरिक आवश्यकतायें बराबर सताती रहेंगी और वह क्लेशों से पीड़ित होता रहेगा। चाहे जितनी उसे शारीरिक सहायता पहुँचाई जावे, परन्तु उसके कष्ट दूर न होंगे। अज्ञान ही सारे दुःखों और पापों की जड़ है। अविद्या के अन्धकार को मिटाओ, मनुष्य से कहो कि वह आत्मिक बल प्राप्त करे। यदि मनुष्य को उत्तम शिक्षा दी जावे और उसका आत्मा शुद्ध और बलवान् बना दिया जावे, तो फिर कोई घटना उसे दुःख न पहुँचा सकेगी। भूखों के लिए सदावर्त और रोगियों के लिए औषधालय खोलना धर्म का काम है। परन्तु जब तक मनुष्य को सच्ची भिक्षा न दी जायगी, उसकी भूख तथा रोग सदा के लिए नहीं मिट सकेंगे।

भगवद्गीता में बार बार यह उपदेश किया गया है कि नियत हो कर निरन्तर कर्म करना चाहिए। परन्तु कोई कर्म संसार में ऐसा नहीं है, जिसमें धर्म और अधर्म दोनों संयुक्त न हों। किसी कर्म में धर्म अधिक है और अधर्म कम; किसी में अधर्म अधिक और धर्म कम। यह बात स्मरण रक्खो, कोई भी शुभ कर्म ऐसा नहीं है जिसमें पाप का लेश न हो और कोई भी अशुभ कर्म ऐसा नहीं है जिसमें पुण्य का लेश न हो। प्रत्येक कर्म में पाप-पुण्य दोनों मिश्रित रहते हैं। तभी तो इनमें विवेक की आवश्यकता है। विवेक

के द्वारा शुभ कर्म में से अशुभ को निकाल डालो या दबा दो; एवं अशुभ में से शुभ कर्म को चुन लो या धारण करो; इसी का नाम पाण्डित्य है और यही बुद्धिमत्ता है*। शुभ कर्म का फल इष्ट और अशुभ कर्म का फल अनिष्ट है और ये दोनों आत्मा के बन्धन के हेतु हैं। भगवद्गीता ने इस बन्धन से छूटने का जो उपाय बतलाया है, वह यह है कि यदि तुम किसी कर्म से अपने को बाँध नहीं देते तो उसका फल तुम्हारे लिए बन्धन का हेतु न होगा। हमको विचार-पूर्वक यह समझ लेना चाहिए कि इस अनासक्ति (बेतअ़ल्लुक़ी) का यथार्थ में क्या अभिप्राय है ?

गीता कहती है कि कर्म करो। परन्तु कर्म से या उसके फल से अनासक्त (बेतअ़ल्लुक़) रहो। संस्कार (मन की वासनायें) सक्ति को उत्पन्न करती हैं। इसको समझाने के लिए हम एक दृष्टांत देते हैं। मनुष्य का मन एक सरोवर है, इसमें लहरें उठा करती हैं। ये लहरें यद्यपि किसी समय शान्त हो जावें तथापि सदा के लिए

---

* गीता में लिखा है कि जो मनुष्य कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म को देखता है, वही बुद्धिमान् और कर्मवान् है। इसका यह आशय कदापि नहीं है कि कर्म को अकर्म और अकर्म को कर्म समझे, किन्तु इसका आशय भी यही है कि कोई कर्म ऐसा नहीं है जिसमें अकर्म की आशङ्का न हो और न कोई अकर्म ऐसा है, जिसमें कर्म की सम्भावना न हो। अतएव जो कर्म में से अकर्म को निकाल कर उसका आचरण करता है, एवं अकर्म में से भी कर्म को चुन कर ले लेता है और अकर्म का त्याग कर देता है। वह निश्चय बुद्धिमान् और कर्मयोग का जाननेवाला है।　　　　[अनुवादक]

मर नहीं जातीं, किन्तु अपने पीछे कुछ चिह्न छोड़ जाती हैं। सम्भव है, आगे चल कर इनसे और लहरें उत्पन्न हों। ये चिह्न ही संस्कार हैं और उनसे और लहरों के पैदा होने की सम्भावना रहती है। जो कर्म हम करते हैं (चाहे वह शारीरिक चेष्टा हो या मानसिक सङ्कल्प) मन पर सब का चित्र पानी में बुलबुले की तरह खिँच जाता है। ये चित्र चाहे बाहर न देख पड़ें, पर भीतर ही भीतर काम करने की इनमें भारी शक्ति विद्यमान होती है, और वे अनवरत अपना काम करते रहते हैं। हमारी वर्त्तमान अवस्था इन संस्कारों या पूर्वसञ्चित कर्मों के प्रभावों का संघात है। प्रत्येक मनुष्य का चरित्र इन्हीं संस्कारों के साँचों में ढलता है। जैसे संस्कार होंगे वैसाही चरित्र भी होगा। जो मनुष्य सदा बुरी बातें सुना करता है, बुरी भावनायें मन में रखता है और बुरे कर्म किया करता है, उसका मन बुरे संस्कारों से भरा रहेगा। और उससे सदा वैसेही कर्म और संकल्प प्रकट होते रहेंगे और उसकी प्रकृति ही वैसी पड़ जायगी। इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य अच्छी भावनायें मन में रखता है, वाणी से अच्छे वचन बोलता है और शरीर से अच्छे कर्म करता है तो उसके संस्कार भी अच्छे होंगे और वे उसे खींच कर पुण्य की ओर ले जायँगे। यदि वह भूल कर पाप करना भी चाहेगा तो उसके मन में एक प्रकार का क्षोभ उत्पन्न हो जायगा, जिससे उसे पाप करने का साहस न होगा। जब शुद्ध भावनाओं की धारणा से शुभ कर्म करते करते उसकी धार्मिक प्रवृत्ति हो जायगी तो फिर उसके लिए पाप-कर्म की शङ्का ही मिट जायगी; उसका मन फिर पाप-कर्म की ओर भूल कर भी न जायगा। उसके

हृदय में शुद्ध संस्कार जागृत होंगे, जो उसके जीवन को धर्म के साँचे में ढाल कर ध्रुव के समान अचल बना देंगे।

जिस प्रकार कछुआ अपने हाथ-पैर और सिर को भीतर की ओर सिकोड़ लेता है. उसकी पीठ पर कितनी ही मार क्यों न पड़े, वह कभी सिर बाहर न निकालेगा। इसी प्रकार जिस मनुष्य का चारित्र्य बन गया है और जिसने अपने मन को वश में कर लिया है, वह कभी मर्यादा से बाहर पाँव न रक्खेगा। वह अपने समस्त आंतरिक भावों पर अधिकार रक्खेगा। कोई प्रलोभन उस को अपने अध्यवसाय से नहीं हटा सकता। लगातार शुभ सङ्कल्पों की भावना और शुभ कर्मों के अभ्यास से उसके संस्कार पवित्र हो जाते हैं। इस प्रकार जब मनुष्य का चरित्र पवित्र हो जाता है तब उससे किसी प्रकार के अनर्थ या अनिष्ट की सम्भावना नहीं रहती। ऐसे महात्मा पुष्प की सुगन्धि के समान होते हैं, जो अपना प्रभाव दुर्जनों पर भी डालते हैं, पर दुर्जनों के प्रभाव को अपने पास तक नहीं आने देते*। ऐसे ही धर्मात्मा पुरुष जिज्ञासु तथा मुमुक्षु बन सकते हैं। तुमको स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक

---

* सत्सङ्गात् भवति हि साधुता खलानां साधूनां नहि खलसंगमात्खलत्वम्।
आमोदं कुसुमभवं मृदेव धत्ते मृद्गन्धं नहि कुसुमानि धारयन्ति ॥

सज्जन पुरुषों के संग से दुर्जनों में भी सुजनता आ जाती है, पर दुर्जनों के संग से सज्जनों में नीचता नहीं आती। पुष्प के गन्ध को मृत्तिका धारण करती है, पर मृत्तिका के गन्ध को पुष्प धारण नहीं करते।

[अनुवादक]

योग का उद्देश मोक्ष ही है। कर्मयोग हो वा ज्ञानयोग दोनों का फल वा लक्ष्य एक ही है। कर्म करने से भी मनुष्य उसी पदवी को पहुँचेगा, जिसको बुद्ध भगवान् ने ध्यान से और खीष्ट ने प्रार्थना से पाया था। पूर्ण स्वाधीनता का नाम मोक्ष है और यह स्वाधीनता शुभ और अशुभ इन दोनों से परे है। न पुण्य का बन्धन हो, न पाप का। सोने की ज़ंजीर भी वैसी ही बुरी है, जैसी कि लोहे की। कल्पना करो कि मेरे हाथ में काँटा गड़ गया, उसके निकालने के लिए मैंने दूसरे काँटे को ले लिया, जब उससे काम ले चुका अर्थात् काँटा निकल गया, तब दोनों ही को फेंक देता हूँ। मुझको दूसरे काँटे के रखने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि हैं तो दोनों ही काँटे। इसी प्रकार शुभ संस्कारों से अशुभ संस्कार तथा पुण्य-वृत्ति से पाप-वृत्ति दबाई या मिटाई जाती है। जब बुरे संस्कार दब गये या मिट गये तब अच्छे संस्कारों को भी दबा लेना चाहिए। केवल यही एक उपाय है जिससे हम कर्म करते हुए उसके प्रभाव से निर्लेप रह सकते हैं। कर्म अवश्य करो, लहरों को आने और जाने दो, पर सावधान रहो कि वे कर्म तुम्हारे मन पर दृढ़ संस्कार न जमाने पावें। मस्तिष्क और मन से बड़े बड़े विचार और आविष्कार होते रहें, किन्तु सावधान रहो कि आत्मा पर उनका प्रभाव न पड़ने पावे। यह किस प्रकार हो सकता है? हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि उस कर्म का प्रभाव, जिससे हमारा घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, हमारे मन पर शेष रहता है।

दिन के समय हज़ारों मनुष्यों को हम देखते हैं और ऐसे मनुष्यों से भी मिलने का संयोग होता है जिनको हम प्यार करते

हैं। जब रात को एकान्त में जा कर हम उन आकृतियों का कि जो दिन में हमने देखी थीं, ध्यान करने लगते हैं तो केवल उनको देखते या स्मरण करते हैं, जिनको हम प्यार करते हैं। सम्भव है कि क्षण भर के लिए ही ये आकृतियाँ हमारी दृष्टि के सम्मुख आई हों, परन्तु स्नेह या प्रेम का सम्बन्ध होने से इन्हीं का प्रभाव मन पर शेष रहता है; शेष सब विस्मृत हो जाती हैं। जिससे जितना अधिक सम्बन्ध होगा, उतना ही अधिक उसका प्रभाव मन पर रहेगा। यद्यपि मन पर सब आकृतियों का प्रतिविम्ब एक ही रीति पर पड़ता है, तथापि मूर्त्ति उसी की साफ़ उतरती है जिससे मन को कुछ लगाव होता है। चाहे तुमने अपने किसी प्रिय मित्र को निमेष मात्र ही देखा हो और उसको तुम नहीं भूलते और जिनसे तुम्हारा विशेष सम्बन्ध नहीं है, उनको चाहे तुम बहुत देर तक भी देखते रहे हो, पर थोड़ी देर में भूल जाते हो और उनका देखना न देखना बराबर हो जाता है। यही दशा कर्मों की है। यदि तुम फल की वासना रखते हुए कर्म करोगे तो तुम कभी उनके बन्धन से अपने को न बचा सकोगे। हाँ, कर्त्तव्य समझ कर निष्काम भाव से चाहे दिन रात तुम कर्म करते रहो, तुम पर उनका कुछ भी प्रभाव न होगा।

इसलिए, यदि, तुम स्वाधीनता चाहते हो तो निःसङ्ग बनो। मस्तिष्क को काम करने दो, मन को रचना-चतुर बना रहने दो, और शरीर को लगातार कर्म करने दो। पर इस बात का ध्यान रहे कि संसार की एक लहर भी मन को चञ्चल और विवश न करने पावे। आगन्तुक या अतिथि की अवस्था में काम करो। रात-दिन कर्म करने में तत्पर रहो, पर संसार की किसी वस्तु से अपने

को सम्बद्ध न होने दो। क्योंकि बन्धन या अधीनता आत्मा के लिए जैसी अप्रिय है वैसी और कोई वस्तु नहीं।

यह संसार हमारे रहने की जगह नहीं है, किन्तु हमारे विश्राम के लिए एक पथिकाश्रम (मुसाफ़िरखाना) है। सुनो, सांख्य क्या है? "प्रकृति आत्मा के लिए है, आत्मा प्रकृति के लिए नहीं।" यही सांख्य की शिक्षा का सार है। प्रकृति की विद्यमानता केवल आत्मा की शिक्षा के लिए है। इसके सिवा और उसका कुछ भी प्रयोजन नहीं है। प्रकृति इसलिए है कि आत्मा को ज्ञान की प्राप्ति हो और ज्ञान प्राप्त करके वह मोक्ष पद को पा लेवे। यदि हम इस रहस्य को सदा स्मरण रक्खेंगे तो प्रकृति कभी हमारे लिए बन्धन का कारण न होगी। हम बराबर समझते रहेंगे कि प्रकृति हमारे स्वाध्याय के लिए एक पुस्तक है जिसको हमें अध्ययन करना है। और जहाँ हमको विद्या प्राप्त हो गई, फिर पुस्तक से कुछ प्रयोजन नहीं रहता। किन्तु हम भ्रान्ति में पड़ कर अपने आपको प्रकृति समझ लेते हैं। हम सोचने लगते हैं कि आत्मा प्रकृति के लिए है और वह मांस और चर्म का पिण्ड है। जीना खाने के लिए है और खाना जीने के लिए नहीं है। हम रात-दिन इसी भ्रान्ति में पड़े हुए हैं, अर्थात् अपने आपको शरीर और प्रकृति मान रहे हैं यही कारण है कि हम इसके बन्धन से छूट नहीं सकते। भला कैसे छूट सकते हैं, जब कि हम इसके दास या सेवक बन कर काम करते हैं?

वेदान्त की शिक्षा का सार यह है कि तुम स्वामी और स्वाधीन बन कर स्वामित्व और स्वाधीनता की दशा में काम करो। प्रकृति

के सेवक और उपासक न बनो। काम सदा करते रहो, पर वह भृत्य का काम न हो। क्योंकि जो लोग दीन या अधीन होकर काम करते हैं, उनके काम में स्वार्थ की मात्रा अधिक होती है। काम स्वाधीनता और प्रेम के साथ होना चाहिए। जब तक स्वाधीनता न हो, तब तक सच्चा प्रेम हो ही नहीं सकता, दास में कभी सच्चा प्रेम न होगा। तुम उसे बन्धन में डाल कर काम लेते रहो, वह काम करता रहेगा, परन्तु उसका काम प्रेमपूर्वक न होगा। इसी प्रकार जब तक हम अर्थों के दास एवं मन और इन्द्रियों के अधीन होकर अपने लिए काम करते हैं, तब तक सच्चा प्रेम और विश्वास हमारे हृदय में उत्पन्न ही न होगा। ऐसे ही जो काम अपने सम्बन्धियों और मित्रों के लिए किया जाता है, उसमें भी स्वार्थ है और जहाँ स्वार्थ है वहीं बन्धन और दुःख है। केवल निष्काम कर्म में ही सच्चा प्रेम रहता है और जहाँ सच्चा प्रेम है, वहीं सच्चा सुख और सच्ची शान्ति है। वास्तविक जीवन, वास्तविक ज्ञान और [illegible] प्रेम का परस्पर नित्य सम्बन्ध है, और सच तो यह है कि ये तीनों एक ही हैं। जहाँ एक की स्थिति होगी, वहाँ दूसरे भी अवश्य होंगे। यथार्थ में ये तीनों एक ही वस्तु के तीन अंग हैं। इन्हीं को सत्, चित्, आनन्द भी कहते हैं। हमारा जीवन है, चित् उसमें ज्ञान है और आनन्द ही प्रेम है, जिसको हमारा हृदय अनुभव करता है। जहाँ ईर्ष्या या दुःख है, वहाँ सच्चा प्रेम कदापि नहीं रहता। कल्पना करो कि एक मनुष्य किसी स्त्री पर आसक्त है वह चाहता है कि वह स्त्री सिवा उसके दूसरी ओर न देखे। ईर्ष्या की आग उसके हृदय में भड़कती रहती है। वह स्त्री को सर्वथा

अपने अधीन रखना चाहता है। वह आप भी उस स्त्री का दास है। और उस स्त्री को भी अपना दास बनाना चाहता है। यह प्रेम नहीं है। यह दास की नीच और स्वार्थमयी वासना का फल है। इससे प्रेम की अवज्ञा होती है। यदि वह उसकी इच्छा के अनुसार काम नहीं करती तो उसको दुःख होता है। प्रेम में दुःख कहाँ? प्रेम में तो आनन्द ही आनन्द है। जिस प्रेम में आनन्द नहीं है उसको कभी भूल कर भी प्रेम न कहो। प्रेम के विषय में संसार में बड़ी भ्रान्ति फैली हुई है। जब तुमको अपनी पत्नी अपने पति और अपने पुत्र मित्रादि से प्रेम करने में दुःख या ईर्ष्या उत्पन्न न हो और न स्वार्थ का भाव मन में आने पावे, तब तुम समझो कि तुम्हारा सच्चा प्रेम है और तुम निःसङ्ग और स्वाधीन बन सकते हो।

कृष्ण भगवान् कहते हैं—हे अर्जुन! "यदि मैं थोड़ी देर के लिए भी कर्म करना छोड़ दूँ तो यह जगत् उत्सन्न हो जावे। यद्यपि मुझको कुछ कर्त्तव्य और प्राप्तव्य नहीं है, क्योंकि मैं आप्त-काम हूँ। न कर्म और उसके फल में मेरी वासना है, तथापि मैं कर्म करता हूँ, क्योंकि मुझे जगत् से प्रेम है। और इस प्रेम से ही सच्चा त्याग उत्पन्न होता है।" जहाँ भौतिक सम्बन्ध होता है जहाँ मनुष्य सांसारिक विषयों में लिप्त रहते हैं वहाँ केवल शारी-रिक सम्बन्ध रहता है। शरीर के परमाणुओं में आकर्षण उत्पन्न होता है, जिसके कारण दो भिन्न भिन्न शरीर थोड़ी देर के लिए एक दूसरे से मिलते हैं और यदि उनका मिलाप नहीं होता तो दुःख उत्पन्न होता है। पर जहाँ सच्चा प्रेम है, वहाँ भौतिक

सम्बन्ध का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। सच्चा प्रेम रखने वाले मनुष्य चाहे हज़ारों कोस के अन्तर पर रहते हों, पर उनके प्रेम की दशा एक जैसी होगी। ऐसा प्रेम कभी मरता नहीं, चाहे शरीर भले ही नष्ट हो जावें। और न कभी उसमें दुःख की आशंका होती है।

इस नैष्कर्म्य पदवी के प्राप्त करने में कई जन्म लग जाते हैं। परन्तु जहाँ यह प्राप्त हो गई, मानो मनुष्य-जीवन का अभीष्ट सिद्ध हो गया। प्रेम का कोष हाथ आ गया और हम स्वाधीन हो गये। प्रकृति का बन्धन टूट गया। हम प्रकृति को उसके वास्तविक रूप रङ्ग में देखने लग जायँगे और फिर वह हमारे बन्धन के लिए नई कड़ियाँ और नई ज़ंजीरें न बना सकेगी। जहाँ अधीनता है, वहीं स्वार्थ-बुद्धि है और जहाँ स्वार्थ-बुद्धि है, वहीं फल की इच्छा है। जो मनुष्य स्वाधीन हो कर प्रेम के साथ काम करता है, उसको कभी फल की इच्छा न होगी। और जब कि उसका कोई स्वार्थ नहीं है तो कर्म-फल उसके लिए दुःखदायक नहीं हो सकता।

क्या तुम कभी अपने पुत्रों से भी प्रेम का बदला चाहते हो? कभी नहीं। यह तुम्हारा धर्म है कि तुम उनके लिए काम करो। ऐसे ही जहाँ तुमको किसी मनुष्य-विशेष या नगर-विशेष या देश-विशेष के लिए काम करने की आवश्यकता हो वहाँ दृढ़ता और प्रेम के साथ काम करो। पर इनके साथ भी तुम्हारा बर्ताव वैसा ही हो, जैसा अपने लड़कों के साथ हुआ करता है। बदला, सेवा का मूल्य या फल की कभी इच्छा न करो। यदि तुम निःस्वार्थ लोगों को दान देते हो, निष्काम संसार का उपकार कर रहे हो तो

विश्वास रक्खो कि तुम्हारा कर्म कभी बन्धन का हेतु न होगा। बन्धन केवल वहाँ होता है, जहाँ फल की इच्छा रहती है।

सेवक की भाँति काम करने में स्वार्थ-बुद्धि कभी जा नहीं सकती और वही बन्धन का हेतु है। यदि तुम स्वामी की भांति काम करो तो उस काम का सच्चा प्रेम और आनन्द होगा। हम लोग प्रायः न्याय और अधिकार के विषय में वाद-विवाद करते रहते हैं। पर हम देखते हैं कि संसार में न्याय और अधिकार की बातें बच्चों की बकवास से अधिक गौरव नहीं रखतीं। केवल दो वस्तु हैं, जो मनुष्य के चारित्र्य की रचना या रक्षा करती हैं। एक दया और दूसरी शक्ति। शक्ति के घमण्ड में रहना और उसका अभ्यास करना स्वार्थ-परता है। प्रत्येक पुरुष या स्त्री अपने अधिकार और शक्ति से लाभ उठाने की चिन्ता में अहर्निश व्यग्र रहते हैं। दया स्वर्ग का द्वार है, जिसको धर्मात्मा बनना हो वह दया करे। न्याय, अधिकार और शक्ति इन सब का यथार्थ उपयोग भी दया पर निर्भर है। कर्म का बदला चाहने से आत्मिक उन्नति के मार्ग में रुकावट उत्पन्न होती है, जिससे आत्मा दुःखित होता है। फल से कुछ सम्बन्ध न रख कर केवल कर्म करने से बन्धन नहीं होता।

एक दूसरा उपाय भी है जिससे दया और निःस्वार्थ उदारता को चरितार्थ किया जा सकता है। वह यह है कि कर्म को "उपासना" समझ कर करो। यदि तुमको एक ईश्वर पर विश्वास है तो यह कर्म ही उसकी उपासना है। अतएव कर्म करो और उस का फल ईश्वर के अर्पण कर दो। जब तुम ईश्वर के उपासक हो

तो फिर तुमको कब यह अधिकार है कि उससे उन कर्मों के फल की वांछा रक्खो, जो तुम संसार के लिए कर रहे हो। ईश्वर स्वयं विना किसी के सम्बन्ध और विना किसी स्वार्थ के काम करता है। इसी प्रकार तुम भी करो। जैसे जल कमल-पत्र को तर नहीं कर सकता, वैसे ही निष्काम कर्म करनेवालों के लिए कर्म बन्धन का हेतु नहीं होता। निःस्वार्थ पुरुष चाहे बड़े से बड़े नगर में रहे, चाहे वह निरन्तर पापियों से घिरा रहे, परन्तु वह कभी पाप-कर्म न करेगा।

निम्नलिखित आख्यान से इसका विशेष विवरण होगा। जब कुरुक्षेत्र का युद्ध समाप्त हो गया तब पाण्डवों ने बहुत बड़ा यज्ञ किया। जिसमें दीनों को बहुत कुछ दान दिया गया। सब को आश्चर्य हुआ, क्योंकि कहीं ऐसा दान न देखने में आया न सुनने में। जब यज्ञ समाप्त हो गया, तब एक नकुल वहाँ आया। उसका आधा शरीर सोने का था और आधा भूरे रङ्ग का। वह वहाँ आकर यज्ञ में लोटने लगा। थोड़ी देर के पश्चात् वह यज्ञ-कर्त्ताओं को सम्बोधन करके कहने लगा "तुम सबके सब झूठे और धोखा देनेवाले हो। यह यज्ञ नहीं है"। यज्ञ-कर्त्ताओं ने कहा—"तुम क्या कहते हो? क्या कभी पहले किसी यज्ञ में इतना दान हुआ था? देखो कङ्गाल धनी और दुःखी सुखी बन गये"। न्यौले ने उत्तर दिया। सुनो, "एक छोटा सा गाँव था। उसमें एक दीन ब्राह्मण सकुटुम्ब रहता था। इसके कुटुम्ब में चार प्राणी थे, एक वह आप, दूसरी उसकी स्त्री, तीसरा उसका पुत्र और चौथी उसकी पुत्रवधू। इनकी आजीविका भिक्षा पर निर्भर थी। दैव-दुर्विपाक से देश में ३ वर्ष का

दुर्भिक्ष पड़ा। वह ब्राह्मण अत्यन्त ही दरिद्र था, इसलिए उसके कष्ट की कोई सीमा न रही। पांच दिन तक बराबर चारों प्राणियों ने निराहार व्रत किया। छठे दिन किसी ने उनको थोड़े से यव (जौ) दिये, जिनके सत्तू बनाये गये। ब्राह्मण ने उचित रीति पर उसके चार भाग कर दिये। अभी खाने का आरम्भ नहीं हुआ था कि किसी ने द्वार खटखटाया। ब्राह्मण ने द्वार खोल दिया और अभ्यागत को भीतर आने की आज्ञा दी। आर्यावर्त्त में सदा से यह रीति चली आई है कि गृहस्थ आप भूखे रह कर भी अतिथि को भोजन देते हैं। दीन ब्राह्मण ने अभ्यागत का स्वागत करके अपने भाग का सत्तू उसके सामने रख दिया। अभ्यागत भूखा था, एक सपाटे में सब खा गया और कहने लगा—"तुमने मुझको मार डाला, मैं दस दिन से भूखा हूँ। इस लघु भोजन ने मेरी भूख को और भी भड़का दिया"। तब ब्राह्मण की स्त्री ने अपने पति से कहा कि "मेरा भाग भी इसको दे दो।" पति ने कहा, "नहीं।" स्त्री हठ करने लगी "देखो, यह दीन मनुष्य आज हमारा अतिथि है, भूखा है। हमारा धर्म है कि हम इसको भोजन दें। क्योंकि मैं आपकी अर्द्धाङ्गिनी हूँ, इसलिए मुझको अधिकार है कि आपकी अतिथि-सेवा में भाग लूँ।" यह कह कर उसने भी अपना भाग अतिथि के अर्पण कर दिया। उसको भी खाकर अतिथि ने कहा कि मेरी भूख शांत नहीं हुई। तब पुत्र ने कहा कि "मेरा भाग भी ले लो। क्योंकि मैं पिता के दाय का भागी हूँ, इसलिए अपने कर्त्तव्य-पालन में उसकी सहायता करना मेरा धर्म है"। किन्तु पुत्र के भाग को भी पा कर अतिथि की तृप्ति नहीं हुई। तब पुत्र की स्त्री ने भी

अपना भाग उठा कर उसको दे दिया। अभ्यागत ने तृप्त हो कर भोजन किया और आशिष देकर वह वहाँ से प्रस्थित हो गया। उसी रात को ये चारों भूख का कष्ट सहते सहते मर गये। उस सत्तू की भूसी वहाँ भूमि पर पड़ी हुई थी, मैं उस पर लेटने लगा और मेरा आधा शरीर जैसा कि तुम देख रहे हो, सुवर्ण का हो गया। उस समय से लेकर मैं बराबर संसार में भ्रमण कर रहा हूँ, इस उद्देश से कि कहीं और ऐसा ही यज्ञ हुआ हो तो वहाँ लोट लगाऊँ और यह शेष आधा शरीर भी सुवर्ण का हो जावे। पर इस तुम्हारे यज्ञ में लोटने से ऐसा नहीं हुआ, इसलिए मैं कहता हूँ कि तुम झूंठे हो और यह यज्ञ नहीं है।

शोक कि उदारता और अतिथि-सेवा का यह आदर्श दिन प्रति दिन आर्यावर्त्त से लुप्त होता जा रहा है। जब मैंने पहले अँगरेज़ी पढ़ना आरम्भ किया, तब एक लड़के का वृत्तान्त पढ़ा जो बाहर काम करने के लिए गया हुआ था और विदेश से रुपया भेज कर माता की सहायता करता रहा। उसकी प्रशंसा में एक पुस्तक के चार पृष्ठ रंगे गये थे। मुझे आश्चर्य हुआ कि यह क्या बात है। हिन्दू-सन्तान की दृष्टि में तो यह कोई असाधारण बात नहीं। पर अब मैंने समझा कि क्यों इस लड़के की इतनी प्रशंसा की गई थी। यूरप में यह शिक्षा दी जाती है कि प्रत्येक मनुष्य को अपनी चिन्ता आप करनी चाहिए। वहाँ प्रायः लोग केवल अपनी ही चिन्ता करते हैं और उनको इस बात की परवा तक नहीं होती कि माँ-बाप लड़केवाले और घरवाली की क्या दशा होगी? यह अत्यन्त ही निन्दनीय प्रथा है। गृहस्थ के लिए यह आदर्श कभी न होना चाहिए।

अब तुम विचार करो कि कर्मयोग क्या वस्तु है ? अन्तिम समय तक दूसरों का उपकार करना और प्रत्युपकार (बदले) का नाम तक मुँह पर न आने देना कर्मयोग है । दीनों को दान दे कर कभी उनसे धन्यवाद या कृतज्ञता की आशा न करो । किन्तु तुम आप उनके कृतज्ञ बनो कि उनके कारण तुमको उदारता और दया के अभ्यास करने का अवसर हाथ आया । इसलिए गृहस्थाश्रम का धर्म संन्यासाश्रम के धर्म से कहीं कठिन है । कार्मिक जीवन त्याग के जीवन से कहीं दुराराध्य है ।

तीसरा अध्याय

धर्म क्या है ?

कर्मसंयोग की मीमांसा करने में यह जानना भी परमावश्यक है कि धर्म क्या है ? यदि मुझको कुछ काम करना है तो काम करने से पहले यह जान लेना चाहिए कि मेरा धर्म क्या है ? तभी मैं उसको भले प्रकार कर सकूँगा। धर्म के विषय में भिन्न भिन्न मतों के विचार भिन्न भिन्न हैं। मुसलमान कहते हैं कि जो कुछ क़ुरान में लिखा हुआ है, वही उनका धर्म है। हिन्दू कहते हैं कि वेद की जो आज्ञायें हैं, वही धर्म है। ईसाई अपनी इंजील का प्रमाण देते हुए उसकी आज्ञाओं को अपना धर्म बतलाते हैं। इन सब पर विचार करने से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि मनुष्य-समुदाय के भिन्न भिन्न भागों में, इतिहास के भिन्न भिन्न समयों में और मनुष्य की भिन्न भिन्न जातियों में धर्म की अवस्था भिन्न भिन्न प्रकार की थी। और बहुत सी कठिन परिभाषाओं की तरह धर्म की व्याख्या करना भी कोई सुकर कार्य्य नहीं है। हम केवल पार्श्ववर्त्ती चिह्नों तथा कर्म के प्रत्यक्ष फलों को देख कर धर्म का कुछ विधान कर सकते हैं। जिस समय हमारी आँखों के सामने कोई घटना संघटित होती है, उस समय हमको विशेष रीति पर उसके कारण के

अनुसन्धान करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। धर्म के विषय में यह भाव सर्वगत मालूम होता है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने आत्मा के अनुकूल काम करना चाहिए। परन्तु प्रश्न यह है कि वह क्या वस्तु है, कि जो हमारे कर्म को धर्म का पर्याय बनाती है? यदि किसी ईसाई को गोमांस मिल जाय और वह अपने प्राण बचाने के लिए उसको काम में न लावे तो वह समझेगा कि उसने पाप किया। परन्तु यदि किसी हिन्दू से ऐसा काम हो जाय तो वह इसे आत्मघात से भी अधिक पाप समझेगा। ये सब बातें सामयिक शिक्षा और संसर्ग के फल हैं। पिछली शताब्दी में भारतवर्ष में लुटेरों के समुदाय रहते थे, जिनको ठग कहते थे। वे अपना धर्म इसी बात में समझते थे कि मार्ग चलते हुए पथिकों को मार कर उनकी सम्पत्ति लूट लेना। जितने अधिक मनुष्यों की वे हिंसा करते थे, वे समझते थे कि उतनाही अधिक हमने धर्म का काम किया है, वैसे यदि भूल से भी किसी की गोली किसी के लग जाय तो उसे पश्चात्ताप होगा और वह समझेगा कि मैंने पाप किया है। यदि वही मनुष्य सिपाही बन कर लड़ाई में जावे तो एक दो को नहीं, किन्तु बीसियों मनुष्यों को मार गिरावेगा और इस बात का अभिमान करेगा कि मैंने धर्म का काम किया है। इसलिए धर्म के विषय में सर्वत्र एक ही प्रकार की व्यवस्था देना भारी भूल होगी; पर तो भी धर्म का कुछ निरूपण किया जा सकता है। जिन कामों के करने से हम ईश्वर की ओर चलते हैं, या जिनसे हम ईश्वर की समीपता प्राप्त करते हैं, वे धर्म हैं। और जिन कर्मों के करने से हम ईश्वर से विमुख या दूर होते हैं या जो काम हम

को अपनी अवस्था से नीचे गिराते हैं, वे अधर्म हैं। कोई कर्म ऐसे हैं कि जो हमको आर्य्य और सदाचारी बनाते हैं, कोई ऐसे भी कर्म हैं कि जिनके कारण हम नीच और पशु-तुल्य समझे जाते हैं। किन्तु प्रत्येक मनुष्य के लिए यह कह देना कि किन्हीं विशेष प्रकार के कर्मों से इसमें श्रेष्ठता और आर्यता आ जायगी, कठिन है। संस्कृत में एक उक्ति है जिसको प्रत्येक देश, जाति और प्रकार के मनुष्यों ने श्रेष्ठ माना है। वह यह है कि "मा हिंस्यात् सर्वप्राणिन:" "किसी प्राणी को मत सताओ। सताना या हिंसा करना पाप है"। केवल इतनी ही धर्म की व्याख्या की जा सकती है। इससे अधिक धर्म का विवरण करना कठिन है।

भगवद्गीता ने देश, काल और जाति की अवस्था के अनुसार धर्म की शिक्षा दी है। हमको उचित है कि हम ऐसे काम करें, जो हमारे देश, काल और समाज के विरुद्ध न हों। पर इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि सब देश, काल और समाजों के आदर्श एक से नहीं होते। जो कि हम अपने से भिन्न देश, काल और समाज की रीति तथा व्यवहारों को नहीं जानते, इसलिए हम दूसरों से द्वेप या उनका अनादर करने लगते हैं। अमेरिकावाले समझते हैं कि जो कुछ अमेरिकन आचार-विचार हैं, वे ही सबसे उत्तम और सभ्यता के आदर्श हैं और जिनमें वे आचार-विचार नहीं हैं, वे असभ्य और अनादरणीय हैं। एक भारत-निवासी हिन्दू समझता है, उसी के कर्म धर्म श्रेष्ठ हैं और सब के हीन हैं। यह एक बड़ी भारी भूल है जो मनुष्यों की संकीर्णता और मात्सर्य से उत्पन्न हुई है। इस भूल के कारण बड़े अनर्थ और उत्पात हुए

हैं और इसी के कारण भिन्न भिन्न जातियों में परस्पर द्वेष और वैमनस्य की आग प्रचण्ड हो रही है।

इसलिए हमको यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि जहां अपने धर्म-कर्म से हमको सच्चा प्रेम होना चाहिए, वहाँ दूसरों के धर्म-कर्म का भी उचित मान करना चाहिए और हम उनकी सामाजिक परिस्थिति की अपने जातीय आचार-विचारों से कभी तुलना न करें। "मैं सारे संसार का किसी दशा में आदर्श नहीं हो सकता।" यह बड़ी भारी शिक्षा है, जो हमको सीखनी चाहिए। संसार में तो क्या किसी देश में भी सर्वत्र एक ही रीति का प्रचार नहीं हो सकता। समय और सामयिक बातों के परिवर्त्तन से धर्म में भी परिवर्त्तन होता रहता है। इसलिए वर्त्तमान देश और समय के अनुसार जो कर्म उचित और आवश्यक हैं, वे ही हमारे प्रस्तुत धर्म हैं। वर्ण और आश्रम के अनुसार जो हमारा धर्म है, उस पर हमको दृढ़ रहना चाहिए। तत्पश्चात् अपने जीवन और अवस्था के अनुसार जो हमारा व्यक्तिगत धर्म है उसकी चिन्ता करें। इस जीवन में प्रत्येक मनुष्य की कुछ न कुछ स्थिति है; उसको उसी स्थिति में काम करना चाहिए। संसार में उस मनुष्य के लिए बहुत भय है, जो अपनी वास्तविक अवस्था पर दृष्टि नहीं देता और जैसा आप नहीं है वैसा अपने को समझने लगता है, या जैसा आप है वैसा अपने को नहीं समझता। जो मनुष्य अपने व्यक्तिगत धर्म एवं सामाजिक धर्म का पालन नहीं कर सकता, उससे कदापि यह आशा नहीं की जा सकती कि वह सामान्य धर्म का यथावत् पालन कर सकेगा। यदि मनुष्य किसी छोटे काम को योग्यता के

साथ पूरा करेगा तो उसे अपने आप कोई न कोई बड़ा काम मिल जायगा। जब हम सचाई और प्रेम के साथ कोई काम करने लगते हैं, प्रकृति देवी दूतनी बन कर हमें समाचार पहुँचाती है और हम समझ जाते हैं कि योग्यता का सर्टीफ़ीकेट हमको मिल गया। यदि कोई मनुष्य किसी काम के योग्य नहीं है तो वह बहुत दिन तक उस पर अधिकार न रख सकेगा। प्रकृति की व्यवस्था अटल है। उसके विरुद्ध फल की आशा करना मूर्खता है। मनुष्य, छोटा काम करने से नीचा या छोटा नहीं होता। किसी मनुष्य की परीक्षा उसके काम से न करनी चाहिए, किन्तु यह देखना चाहिए कि वह उस काम को किस प्रकार पूरा कर सकता है।

सबसे उत्तम और पवित्र वे कर्म हैं, जिनमें स्वार्थ का लेश भी न हो और जो केवल कर्त्तव्य या उपासना समझ कर किये गये हों। जिस कर्म में जितनी स्वार्थ की मात्रा बढ़ती जाती है, उतना ही उसका महत्त्व घटता जाता है। यही कर्म का सब से उच्च आदर्श है और यही कर्म का सीधा मार्ग है, इसीसे मनुष्य का आत्मा उन्नत होता है। परन्तु कर्म का यह आदर्श मनुष्य को तब प्राप्त होता है जब शुभ कर्मों के निरन्तर अभ्यास से उसके दुष्ट संस्कार क्षीण हो जाते हैं और उसका अन्तःकरण उदार भावों और उच्चाशयों का प्रसवक्षेत्र बन जाता है। केवल धर्म-बुद्धि से कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए, यही एक कर्म के बन्धन से छूटने का मार्ग है। जो निःस्वार्थ कर्म करते हैं, उनमें ओज और प्रसाद चमकने लगते हैं। स्वार्थपरता ही मनुष्य को पाप की ओर ले जाती है, इसके प्रभाव से बचने के लिए केवल एक वस्तु की आवश्यकता

है और वह प्रेम है। प्रेम ही धर्म का मूल है, इसके विना मनुष्य अपने किसी अवस्था के धर्म का भी पालन नहीं कर सकता। पितृ-धर्म, पुत्र-धर्म, पति-धर्म, पत्नी-धर्म, गुरु-धर्म, शिष्य-धर्म, राज-धर्म और प्रजा-धर्म यहाँ तक कि मनुष्य-धर्म ये सब प्रेम के ही आश्रित हैं। जहां प्रेम है वहाँ मनुष्य निष्काम भाव से अपने कर्त्तव्य पालन की ओर झुकता है और जहाँ प्रेम नहीं, वहाँ जो कुछ किया जाता है अपने स्वार्थ के लिए। जिससे परस्पर अविश्वास उत्पन्न होकर ईर्ष्या, द्वेष और मत्सरता की वृद्धि होती है।

चिड़चिड़े स्वभाव की स्त्रियाँ अपने पतियों पर अपना प्रभुत्व जमाना चाहती हैं। पर यथार्थ में वे अपने इस वर्ताव से अपनी नीचता का परिचय देती हैं। यही दशा उन पतियों की है जो सदा अपनी पतिव्रता स्त्रियों में दोष ही देखा करते हैं। सदाचार स्त्री और पुरुष दोनों का भूषण है परन्तु वह विना दोनों में सच्चे प्रेम के कभी रह नहीं सकता। जो पुरुष सदाचार से भ्रष्ट हो गये हैं, उनको धर्म के मार्ग पर लाना यद्यपि कठिन काम है, तथापि उनकी स्त्रियाँ यदि पतिव्रता और सदाचारिणी हों तो बहुत कुछ उन पर अपना प्रभाव डाल सकती हैं। इसी प्रकार धर्मात्मा और स्त्रीव्रत-पुरुष भी अपने सुचरित्र से अपनी कर्कशा और स्वैरिणी स्त्रियों का सुधार कर सकते हैं। पवित्रता और धर्मपरायणता दुष्टता को दबा सकती है। यदि स्त्री सदाचारिणी है और अपने पति के सिवा संसार के समस्त पुरुषों को अपने पुत्र, भाई या बाप के तुल्य समझती है, तो स्मरण रक्खो, एक भी ऐसा पुरुष न मिलेगा, जिसको उसे कुदृष्टि से देखने का साहस भी हो सके।

इसी प्रकार जो पुरुष सिवा अपनी स्त्री के अन्य सबको माँ, बहन और पुत्री की दृष्टि से देखता है, कोई भी स्त्री उसको अपने धर्म से पतित न कर सकेगी। संसार में जो पुरुष शिक्षक या उपदेशक होने का अभिमान करते हैं, कम से कम उनको तो "मातृवत् परदारेषु" इस आप्त वाक्य पर अपना विश्वास अपने आचरण से दिखलाना चाहिए।

संसार में माता की पदवी सब से बड़ी है। माता से अधिक कोई निःस्वार्थ नहीं होता। माता के प्रेम से केवल ईश्वर के प्रेम को उच्च कक्षा में रक्खा गया है। संसार के और सब प्रेम इससे बहुत नीची कक्षा में हैं। सबसे पहले माता हमको निष्काम कर्म की शिक्षा देती है। यदि ऐसे निःस्वार्थ शिक्षक को पाकर भी हम स्वार्थ में उन्मत्त रहे तो हमारे जीवन को धिक्कार है। वे पुरुष धन्य हैं कि जो अपने माता-पिता के निष्कपट प्रेम में ईश्वर के पवित्र प्रेम की झलक देखते हैं।

उन्नति का सरल और असन्दिग्ध मार्ग यह है कि अपने सामयिक कर्त्तव्य का पूर्ण ध्यान रहे और अपने साधारण धर्म का प्रतिपालन करते हुए दृढ़ता को सम्पादन किया जावे। अपने किसी कर्त्तव्य को भी लघु नहीं समझना चाहिए और न उसकी उपेक्षा करनी चाहिए। छोटा काम करने से कोई छोटा नहीं होता। मनुष्य के महत्त्व की परीक्षा उसके काम से नहीं करनी चाहिए; किन्तु उसके काम करने के ढँग से करनी चाहिए। उसके कर्त्तव्य कार्य्यों के करने का क्रम और ढँग ही उसके जाँचने की कसौटी है। एक

चमार जो थोड़ी देर में दृढ़ और अच्छा जूता बना लेता है, उस पण्डित प्रोफ़ेसर से कहीं अच्छा है, जो रात-दिन व्यर्थ बकवाद करता रहता है।

कोई योगी जंगल में जाकर बहुत काल तक योग-साधन करता रहा। १२ वर्ष तक वह एक आसन पर बैठा हुआ तप करता रहा। एक दिन जब वह अपने ध्यान में बैठा था तब वृक्ष के ऊपर से उसके सिर पर कुछ पत्ते गिरे, उसने ऊपर देखा तो दो कौए आपस में लड़ रहे थे। योगी को क्रोध आया और वे दोनों उसी समय उसके क्रोधाग्नि से जल भुन कर नीचे गिर पड़े। योगी अपने मन में बड़ा प्रसन्न हुआ कि अब मुझको योग-सिद्धि प्राप्त हो गई है। कुछ दिन के उपरान्त वह एक ग्राम में भिक्षा माँगने गया। किसी स्त्री के द्वार पर खड़े होकर आवाज़ दी, "माता! भिक्षा दे जा"। भीतर से आवाज़ आई, ज़रा देर ठहर जा। योगी ने अपने मन में कहा, "अभागिनी स्त्रि! तू मेरे योग-बल को नहीं जानती और मुझे ठहराती है"। अभी वह सोच ही रहा था कि भीतर से फिर आवाज़ आई "बेटे! बहुत क्रोध न कर, यहाँ कौए नहीं बसते"। अब तो योगी चकित रह गया और चुपचाप उसकी प्रतीक्षा करने लगा। थोड़ी देर में एक स्त्री बाहर आई। योगी उसके पाँव पर गिरा और कहने लगा—"माता! तूने कैसे जाना"? उसने कहा, "बेटे! मैं तेरे योग-ध्यान को नहीं जानती। मैं एक साधारण स्त्री हूँ। मैंने इस कारण तुझे ठहराया कि मेरा पति रोग-ग्रस्त है, मैं उसकी सेवा कर रही थी और यह मेरा धर्म है। मैं आयु भर अपने धर्म का आचरण करती रही। जब कुमारी थी, तब भी अपने धर्म

का पालन करती रही और अब विवाह हो जाने पर भी धर्म को ही अपना जीवन-सर्वस्व समझती हूँ। यही योग है जिसका मैं रात-दिन अभ्यास करती हूँ। यही कारण है कि मेरा अन्तःकरण स्वच्छ है और मैं तेरे मन के भाव को तुरन्त जान गई। यदि तू इससे अधिक और कुछ जानना चाहता है तो अमुक नगर में चला जा, वहाँ एक वधिक रहता है, वह तुझे उचित शिक्षा देगा।"

योगी ने सोचा "मैं क्यों वधिक के पास जाऊँ, वह चाण्डाल है। उसके छूने में पाप है"। परन्तु वह उस स्त्री की सिद्धि देख चुका था, इसलिए अब उसमें इतनी शक्ति नहीं थी कि उसकी आज्ञा को भङ्ग कर सके। जब वह उस नगर में पहुँचा। वहाँ उसको एक हृष्ट-पुष्ट वधिक मिला, जो मांस वेचा करता था। योगी ने कहा—"हे परमेश्वर ! यह क्या मुझ को ज्ञान सिखावेगा, यह तो महा नीच कर्म करता है"। इसी अवसर में वधिक की दृष्टि योगी पर पड़ी। उसने आँख उठा कर कहा—"स्वामिन् ! तुमको उस पतिव्रता स्त्री ने ज्ञान सीखने के लिए मेरे पास भेजा है। तुम थोड़ी देर के लिए वृक्ष के नीचे बैठ जाओ, मैं अभी आवश्यक कार्य से निवृत्त होकर आता हूँ"। योगी ने सोचा, "यह क्या रहस्य है ? अब देखो यहाँ क्या कौतुक होता है," यह अपने मन में कह कर बैठ गया। वधिक अपना काम बराबर तत्पर होकर करता रहा। जब उससे निवृत्त हो गया, तब उसने योगी से कहा—"महाराज ! आइए अब मेरे साथ गृह पर चलिए। दोनों प्रस्थित हुए। जब वहाँ पहुँचे, वधिक ने उसको एकान्त स्थान में बिठा कर कहा, आप यहाँ थोड़ी देर आराम कीजिए। यह कह कर वह घर के भीतर गया, जहाँ उसके

माता-पिता रहते थे। उसने उनको न्हिलाया धुलाया और खाना खिलाने के बाद योगी के पास आकर पूछा, "अब आप बतलाइए कि मैं आप की क्या सेवा करूँ ? तब योगी ने ईश्वर और जीव के विषय में कुछ प्रश्न किये। वधिक ने उसके उत्तर में उसको एक अत्यन्त मनोहर और सार-गर्भित उपदेश सुनाया जो आज तक "व्याध-गीता" के नाम से प्रसिद्ध है और जिसको आत्मजिज्ञासु बड़े चाव से पढ़ते और सुनते हैं। वेदान्त की उच्च से उच्च शिक्षा उसमें दी गई है। तुमने 'भगवद्गीता' पढ़ी है, 'व्याधगीता' भी पढ़ो और देखो, वेदान्तदर्शन के कैसे गूढ़ रहस्य उसमें भरे हुए हैं। जब व्याध उपदेश सुना चुका तब योगी को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा, "जब तुम ऐसे ज्ञानी हो तो इस शरीर में क्यों रहते हो और क्यों ऐसा निन्दनीय काम करते हो ? व्याध ने उत्तर दिया, "पुत्र! कोई काम बुरा नहीं है, न कोई धर्म दूषित है। लड़कपन में मैंने यह काम सीखा, मुझ को इसका बन्धन नहीं है। मैं सचाई के साथ प्रमाद-रहित होकर अपने कर्त्तव्य का पालन करता हूँ। गृहस्थ हो कर गृहस्थ-धर्म का पालन करता हूँ। माता-पिता को प्रसन्न रखता हूँ। न तो मैं योग जानता हूँ और न संन्यास। न कभी जंगल में गया और न देशाटन किया। तो भी तुमने सुन लिया कि मेरे विचार कैसे हैं ? और देख लिया कि मुझको किसी प्रकार का बन्धन नहीं है। मैं अपनी योग्यता और अवस्था के अनुसार अपने धर्म का पालन करता हूँ।

भारतवर्ष में एक बहुत बड़ा योगी है। मैंने एक बार उसका दर्शन किया। वह विचित्र पुरुष है। न वह किसी को पढ़ाता

सिखाता है, न किसी के प्रश्न का उत्तर देता है। वह उपदेशक या संन्यासी के काम को करना नहीं चाहता। यदि तुम उससे कोई प्रश्न पूछो और कई दिन तक उसके उत्तर की प्रतीक्षा करो तो वार्त्तालाप के प्रसङ्ग में वह स्वयं तुम्हारे प्रष्टव्य का वर्णन करेगा और अपनी प्रतिभा की कुञ्जी से तुम्हारे हृदय के ताले को खोल देगा और तुम चकित रह जाओगे। उसने एक बार कर्मयोग के सम्बन्ध में मुझसे कहा कि "उद्देश और उसकी प्राप्ति के साधन को एक कर दो तो तुम कर्म के रहस्य को सुगमता से समझ जाओगे। जब तुम किसी काम को कर रहे हो तो उसके सिवा दूसरी बात का मन में ध्यान तक न करो। समझ लो, यही हमारी उपासना है, यही हमारी पूजा है। अपना सारा जीवन और पुरुषार्थ उस समय उसी काम में लगा दो"। यह कर्मोपासना सब उपासनाओं से प्रधान है। पूर्वोक्त आख्यान में वह स्त्री और व्याध प्रसन्नता, एकाग्रता और प्रेम के साथ अपने धर्म का पालन करते थे। परिणाम यह हुआ कि इस कर्मोपासना से ही उनके हृदय के पट खुल गये और उनके अन्तःकरण में ज्ञान का प्रकाश हो गया। प्रत्येक धर्म पवित्र है और उसका पालन करना ईश्वर-पूजा का सर्वोत्तम साधन है। इससे बड़ी सहायता मिलती है, हृदय के पट खुल जाते हैं और शनैः शनैः सब बन्धन की ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं।

हमारे धर्म और कर्म पर आस पास के सम्बन्ध का बहुत कुछ प्रभाव पड़ता है। उच्च या नीच कर्म का विचार सापेक्ष्य है। जिस कर्मकर्त्ता को कर्मफल की इच्छा होती है, वही फल की प्रतिकूलता

से खिन्न और विमनस्क होता है और अपने भाग्य वा समय की निन्दा करता है या उपालम्भ देता है। और जो इस बन्धन से मुक्त हो गये हैं अर्थात् किसी इच्छा से प्रेरित होकर कर्म नहीं करते, किन्तु अपना धर्म समझ कर करते हैं, उनके लिए न कोई कर्म उच्च है न नीच। उन्होंने राग और स्वार्थ की जड़ को काट दिया है। उनका आत्मा हंस के समान उच्चगामी होकर स्वाधीनता के आकाश में उड़ा करता है, कोई उसे बन्धन में नहीं ला सकता। हममें यह बड़ा दोष है कि हम अपने आपको बड़ा बहुत समझते हैं। जब मैं बालक ही था, स्वप्न में देखा करता था कि मैं राजा हूँ, मुझ में यह बड़ाई है, यह महत्त्व है। शायद तुमको भी ऐसे स्वप्न दीखते हों। पर यथार्थ में यह स्वप्न ही हैं। हमारे कर्त्तव्य चाहे वे कुछ ही क्यों न हों, सर्वदा और सर्वत्र हमारी अवधानता चाहते हैं। यदि हम अपने सामयिक कर्त्तव्य का सम्यक् पालन करें तो जो काम इस समय हमारे हाथ में है, वह हमारी दृढ़ता का कारण बन जायगा और धीरे धीरे हम किसी ऐसे अधिकार और पदवी को प्राप्त होंगे, जिसकी सोसायटी में बड़ी प्रतिष्ठा की जाती है। ईर्ष्या और असहिष्णुता से मन की अशान्ति बढ़ती है, दया और उदारता से ऋजुता और नम्रता बढ़ती है। भाग्य और समय को दोष देने वाले सदा अपना रोना रोया करते हैं। उनको शान्त और प्रसन्न करना कठिन काम है। उनका जीवन सदा उनके लिए प्रतिकूल बना रहता है।
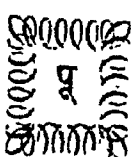
आओ! हम तुम सब अपना अपना कर्म करें, जो हमारा धर्म है, उसको दृढ़ता से पकड़ रक्खें। चलते हुए पहियों में कन्धों को

लगा कर अपने सारे बल से इस कर्म की गाड़ी को खींचो फिर तुम देखोगे कि यह किस प्रकार संसार की दलदल से पार होकर तुम्हें अपने अभीष्ट स्थान में पहुँचाती है।

चौथा अध्याय

परमार्थ में स्वार्थ

पूर्व इसके कि हम इस बात को बतावें कि धर्म्म के पालन करने से कहाँ तक हमारे आत्मा की उन्नति होती है, हमको संक्षेप से यह बता देना चाहिए कि भारतवर्ष में कर्म से क्या तात्पर्य्य लिया जाता है। प्रत्येक धर्म में तीन बातें होती हैं। (१) दर्शन-शास्त्र, (२) उपाख्यान, (३) कर्म-काण्ड। इसमें सन्देह नहीं कि दर्शन-शास्त्र ही सारे मतों का आधार है। उपाख्यानों से महापुरुषों के जीवन-चरित्र और इतिहास के प्रसङ्ग में दर्शन की सजीव आकृति दिखलाई जाती है। कर्म-काण्ड और भी अधिक विस्तार के साथ दर्शन के प्रचार का प्रबन्ध करता है। इन सबके संघात को आगम या शास्त्र कहते हैं। प्रत्येक धर्म में कर्म-काण्ड सब से प्रधान अंश है। हममें से प्रत्येक मनुष्य आध्यात्मिक सिद्धान्तों को उस समय तक नहीं समझ सकता, जब तक उसमें आत्मिक शक्तियों का विकास न हो जावे। मनुष्य प्रत्येक बात में अपने को निपुण और योग्य समझता है, परन्तु जब काम करने का समय आता है तब उन सिद्धान्तों का समझना बड़ा कठिन हो जाता है। इसी लिए उन सिद्धान्तों की मूर्ति या रूपक बनाने का प्रबन्ध किया गया। इस प्रकार के चिह्न या संकेत प्रत्येक धर्म में हैं। हम लोग

बिना संकेतों के और किसी प्रकार से ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। शब्द क्या हैं ? हमारे भावों या विचारों की कृत्रिम मूर्त्तियाँ हैं। यह ब्रह्माण्ड भी इसी प्रकार की एक बड़ी मूर्ति है, जिसके भीतर परमात्मा गुप्त रीति से बैठा हुआ है। इन संकेतों को केवल मनुष्य ने नहीं बनाया। यह बात नहीं है कि एक धर्म के कुछ मनुष्य इकट्ठे हो कर बैठ गये और उन्होंने आपस में सम्मति कर के कुछ संकेत बना लिये। ये संकेत स्वाभाविक हैं और क्रमशः इनकी उन्नति हुई है। अन्यथा यह कैसे सम्भव होता कि किन्हीं किन्हीं संकेतों के विषय में सब या प्रायः मनुष्यों के भाव या विचार एक से हो जाते। बहुत लोग समझते हैं कि मसीही-सूली का सम्बन्ध केवल ईसाई धर्म से है। पर यथार्थ में सूली का चिह्न मूसा की उत्पत्ति से पहले संसार में वर्त्तमान था। फेन्शीन और अजटक जातियों में मसीह की भावना उस समय से पाई जाती है, जब संसार को इतिहास लिखने का ज्ञान भी न था। इसी प्रकार सूली-प्राप्त मुक्तिदाता की कल्पना भी किसी न किसी रूप में सब धर्मों में पाई जाती है। प्रत्येक महापुरुष की आकृति के आस पास मण्डलाकार वृत्त का चिह्न भी सदा से देखने में आता है। इसके सिवा स्वस्तिक

卐 का चिह्न भी सर्वत्र ही पाया जाता है। पहले प्रायः लोग यह समझते थे कि बौद्धों के कारण यह चिह्न संसार में फैल गया। पर खोज करने से प्रमाणित हुआ है कि बौद्धों से हज़ारों वर्ष पहले के लोगों में इसका प्रचार था। बाबिल और मिस्र में भी वह प्रचरित था। इससे सिद्ध है कि इन संकेतों को केवल सामयिक आवश्यकता ने नहीं उत्पन्न किया, किन्तु इनका

कोई न कोई कारण अवश्य है, क्योंकि इनको सर्वत्र मनुष्य के मस्तिष्क से एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध रहा है। इसी प्रकार भाषा भी केवल मनुष्य-रचित नहीं है, ऐसा कभी नहीं हुआ कि कुछ मनुष्य मिल कर इकट्ठे बैठ गये हों और यह सम्मति कर ली हो कि आओ, हम अपने भावों को प्रकाश करने के लिए कुछ शब्द गढ़ लें। शब्द और अर्थ को कोई मनुष्य एक दूसरे से पृथक् नहीं कर सकता। गूँगे और बहरे तक शब्द के संकेतों पर सोचते और विचार करते हैं। प्रत्येक भाव का मस्तिष्क में एक चित्र-विशेष खिंचा हुआ होता है। वेदान्त की परिभाषा में इसी को नाम और रूप कहते हैं। ये दोनों अनादि हैं, इनको कोई उत्पन्न नहीं कर सकता। संसार के शास्त्रीय सङ्केतों में हमको मनुष्य के धार्मिक सिद्धान्तों का पता मिलता है। यह कहना कि कर्म या उपासना की कोई आवश्यकता नहीं है, सुगम है। आज कल एक बालक भी ऐसा कहा करता है। परन्तु यह बात सुगमता से जानी जा सकती है कि जो लोग मन्दिर (स्थान-विशेष) में पूजा किया करते हैं, वे उन लोगों से भिन्न हैं, जो पूजा नहीं करते। इसलिए मन्दिर-विशेष, कर्म-विशेष और चिह्न-विशेषों का धर्म-विशेषों से सम्बन्ध है और प्रत्येक धर्म के अनुयायी उन चिह्नों से परमार्थ को सिद्ध करते हैं। अतएव कर्म की उपेक्षा करना ठीक नहीं। कर्मयोग के सम्बन्ध में इन सब बातों का जानना आवश्यक है।

इस कर्मयोग विज्ञान के अनेक अङ्ग हैं। उनमें से एक यह है कि शब्द और अर्थ में क्या सम्बन्ध है और शब्द की शक्ति से क्या

प्राप्त हो सकता है। प्रत्येक धर्म्म में शब्द की शक्ति स्वीकार की गई है और इस पर इतना अधिक बल दिया गया है कि कोई कोई धर्म तो केवल शब्द से ही सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं। ईश्वर के ज्ञान का बाह्य चिह्न भी शब्द ही है। ईश्वर ने पहले सोचा या इच्छा की, इसलिए यह सृष्टि शब्द से उत्पन्न हुई। आज कल प्रकृति-विज्ञान उन्नति पर है, इसलिए लोगों की बुद्धि ऊपर की तरफ़ नहीं जाती। हृदय कठोर हो रहे हैं। जितने ही जो लोग अधिक आयु वाले हैं, उतने ही वे संसार के कुत्ते बने जा रहे हैं और उनमें उसी परिमाण से कठोरता आ रही है और प्रमाद बढ़ रहा है। तो भी कभी कभी मनुष्यता का ध्यान आ ही जाता है और कोई कोई साधारण सी बातें मनुष्य को तत्त्वानुसन्धान की ओर आकर्षित कर ही देती हैं और फिर इसको ज्ञान का आश्रय लेना ही पड़ता है। यदि हम दर्शन-शास्त्र और शब्द-शास्त्र के धार्मिक मूल्य की थोड़ी देर के लिए उपेक्षा करके देखें, तब भी हमको मानना पड़ेगा कि मनुष्य-जीवन के अभिनय में कर्म ने बहुत बड़ा काम किया है। मैं तुमसे केवल बात चीत कर रहा हूँ, तुमको छूता नहीं। मेरी उच्चारण-क्रिया से वायु में लहरें उठती हैं और मेरे शब्द तुम्हारे कान में जाकर तुम्हारी रगों और नसों को छूते हैं और तुम्हारे मन पर प्रभाव डालते हैं। तुम इस प्रभाव को रोक नहीं सकते। यह शब्द की विचित्र शक्ति है। एक मनुष्य दूसरे को अपशब्द कहता है, दूसरा मुष्टिप्रहार से उसके मुँह को लाल कर देता है। यह भी शब्द का ही प्रभाव है। और भी शब्द के प्रभाव पर ज़रा ध्यान दो। एक मनुष्य दुःख से मर्माहत होकर विलाप कर रहा है,

दूसरा उसके पास आकर मधुर और शान्ति-पूर्ण वचनों से आश्वासन करता है। थोड़ी देर में उसका सब दुःख जाता रहता है और वह आनन्द में आकर आलाप करने लगता है। देखो ! शब्द में कैसी विचित्र शक्ति है। शब्द ही दर्शन-शास्त्र हैं और इन्हीं से धर्म-शास्त्र भी बनता है। मनुष्य-जीवन के नाटक में इनका अभिनय (एक्) सर्वोपरि है और इन्हीं की शक्ति इस सृष्टि में सर्वत्र व्याप्त हो रही है। हम रात-दिन बिना जाने बूझे और बिना परीक्षा किये इस शक्ति से काम लेते रहते हैं; इस शक्ति का जानना वा उपयोग में लाना कर्मयोग की एक शाखा है।

हमारा धर्म है कि हम दूसरों की सहायता करें अर्थात् संसार को लाभ पहुँचावें पर हम ऐसा क्यों करें ? प्रत्यक्ष में तो लोग इस का उत्तर यह देंगे कि इससे संसार का उपकार होता है, पर वास्तव में हमारा अपना उपकार होता है। हम सदा परोपकार की चेष्टा करते हुए कर्म में प्रवृत्त हों, यह बहुत अच्छी बात है। पर यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो संसार को हमारी सहायता की कुछ भी आवश्यकता नहीं। इस सृष्टि को न तो तुमने बनाया और न हमने। फिर हम और तुम इसकी क्या सहायता कर सकते हैं। एक बार मैंने एक उपदेश पढ़ा, उसमें यह लिखा था कि "यह सृष्टि बड़ी अच्छी और सुन्दर है क्योंकि इसके कारण हमको दूसरों के उपकार का अवसर और समय हाथ आता है।" देखने में तो यह बात अच्छी मालूम होती है, पर दूसरी दृष्टि से ऐसा सोचना अनुचित है। क्यों ? क्या ऐसा कहना कि संसार को हमारी सहायता की आवश्यकता है, धृष्टता से पूर्ण और अनुचित नहीं है ?

अवश्य है। हम स्वीकार करते हैं कि संसार में दुःख अवश्य है, इसलिए दूसरों के उपकार की दृष्टि से कर्म करना बहुत अच्छी बात है। पर अन्त में जाकर हमको यह मालूम होने लगता है कि दूसरों की सहायता करने में हम अपनी सहायता आप करते हैं। जब मैं छोटा बालक था, मेरे पास एक सफ़ेद चूहा था। वह एक सन्दूक़ में बन्द था, जिसमें छोटे छोटे पहिये बने हुए थे। पहिये हर वक्त घूमते रहते थे और चूहा बाहर नहीं निकल सकता था। इसी प्रकार संसार और संसार के उपकार का विषय है। इस सहायता का इतना लाभ अवश्य होता है कि हमको एक सद्गुण के अभ्यास का अवसर हाथ आता है। यह संसार न तो बुरा है और न अच्छा है। हम अपने कर्मों से इसको अपने लिए अच्छा या बुरा बना लेते हैं। हम में हज़ारों सुखी हैं और लाखों दुःखी। सुखी सुख से उन्मत्त हो रहे हैं; दुःखी दुःख से विलाप कर रहे हैं। युवक प्रसन्न हैं और बूढ़े उदास हैं। उनको आगे के लिए आशा है और इनके सामने अब निराशा की रात है। परन्तु ये दोनों मूर्ख हैं। जीवन न तो अच्छा है न बुरा। जैसा हमारा अन्तःकरण बन गया है, वैसा ही हम संसार को देखते हैं। वह मनुष्य बुद्धिमान् है, जो न तो किसी वस्तु को अच्छा और न बुरा समझता है। आग अपनी अवस्था में न तो अच्छी है और न बुरी। जब वह हमारी रोटी पका देती है या हमको रोशनी देती है तो हम कहते हैं अहा! आग कैसी अच्छी वस्तु है। पर वही आग जब हमारी उँगलियों को जलाती है तो हम आग को बुरा बतलाने लगते हैं। वास्तव में आग न अच्छी और न बुरी है। हम जिस रीति पर उसका उपयोग

करते हैं, वह हमारे लिए अच्छी या बुरी बन जाती है। यही दशा इस संसार की है। संसार अपनी अवस्था में पूर्ण है। पूर्ण से यह अभिप्राय है कि उसकी आवश्यकतायें किसी व्यक्ति-विशेष या जाति-विशेष पर निर्भर नहीं हैं। हमको विश्वास रखना चाहिए कि चाहे हम कर्म करें या न करें संसार के काम कभी बन्द न होंगे और उनको हमारी सहायता की कुछ भी आवश्यकता न होगी।

तथापि हम को धर्मात्मा होना चाहिए। धर्म की इच्छा ही हम को सदाचारी बनाती है। यदि हम विश्वास करलें कि धर्माचरण और दूसरों की सहायता करने का न केवल हमको अधिकार है, प्रत्युत हमारा धर्म है, तो फिर हमें कोई अपने धर्म के पालन से रोक नहीं सकता। जिनकी तुम सहायता करते हो, उन पर अपना अहसान न जतलाओ और न ऋणी के समान उन पर दबाव डालो। किन्तु उनका तुमको स्वयं कृतज्ञ होना चाहिए कि उनके कारण तुमको अपनी उदारता के चरितार्थ करने का अवसर मिला। उनकी सहायता करने से वास्तव में तुमने अपनी सहायता की है, क्योंकि गृहीता से अधिक दान का लाभ दाता को मिलता है। तुम उनका धन्यवाद करो कि उनके कारण तुम धर्मात्मा और दानी कहलाने के अधिकारी बने और तुमको अपने अन्तःकरण के पवित्र और उदार बनाने में सफलता प्राप्त हुई। स्मरण रक्खो जितने शुभ कर्म तुम करोगे, उतना ही तुम्हारा हृदय पवित्र होगा। चिकित्सालय बनाकर रोगियों की सहायता करो। दीनालय और अनाथालय खोल कर दीन और अनाथों का भरण-पोषण करो। विद्यालय स्थापन करके सर्व-साधारण

को शिक्षित बनाओ। ये और ऐसे ही लोकोपकार के अन्य कार्य्यों को भी उत्साह और प्रेम के साथ करो। किन्तु "हम दूसरों का उपकार करते हैं" इस तुच्छ और अनुचित भावना को अपने हृदय से निकाल दो। यद्यपि संसार आपकी सहायता की प्रतीक्षा नहीं करता तथापि हमको अपने धर्म के पालन में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए। यही हमारे अभ्युदय का मार्ग है और यही हमारे निःश्रेयस की भी निःश्रेणी है।

इस बात को मन में धारण करना कि हमने किसी का उपकार किया है, बड़ी भारी भूल है। इसका परिणाम पश्चात्ताप और दुःख है। हम समझते हैं कि हमने अमुक का उपकार किया है और इस आशा में हैं कि वह हमारा धन्यवाद करे और जब वह ऐसा नहीं करता तो हमको क्रोध उत्पन्न होता है और यही दुःख का कारण है। उदारता का बदला चाहना उसके मूल्य को घटाना है। निःस्वार्थ परोपकार से बढ़ कर और कोई ईश्वर की पूजा नहीं हो सकती। यदि हम अनासक्त (बेलाग) रहें तो इच्छा और आशा की प्रतीक्षा से जो दुःख उत्पन्न होते हैं, वे निर्मूल हो जावें। और हम आनन्द के साथ निर्द्वन्द्व होकर अपना अपना काम करें।

एक दरिद्र को रुपये की आवश्यकता थी। उसने किसी से सुन रक्खा था कि यदि भूत वश में हो जाय तो घर में रुपयों के ढेर लग जावें। उसके मस्तिष्क में यही धुन समा गई और वह ऐसे मनुष्य की खोज करने लगा जो भूत को वश में करने की क्रिया सिखा दे। निदान उसको एक महात्मा मिले। महात्मा ने पूछा

"तू क्या चाहता है"। उसने कहा "मैं भूत चाहता हूँ, जो मेरे लिए काम करे"। महात्मा ने कहा "पागल हुआ है, जा अपने घर को"। उस दिन तो वह घर चला गया, दूसरे दिन फिर आया और साधु से गिड़गिड़ा कर भूत के लिए प्रार्थना करने लगा। साधु ने मुँह बना कर कहा "अच्छा यह यन्त्र ले जा और यह मन्त्र पढ़ना। भूत तेरे पास आ जायगा और जो कुछ तू कहेगा सब कुछ कर देगा। पर सावधान रहना यदि तू उसको काम न दे सकेगा तो वह तुझे मार डालेगा।" दरिद्र ने कहा "मेरे पास काम बहुत है" यह कह कर और घर पर जा कर वह मन्त्र सिद्ध करने लगा। मन्त्र के पढ़ते ही एक भयङ्कर भूत जिसके बड़े बड़े दाँत थे, प्रकट हुआ और कहने लगा "मैं भूत हूँ, तूने मन्त्र के जाप से मुझे वश में कर लिया है। अब मुझे काम बता नहीं तो मैं तुझे मार डालूँगा।" दरिद्र ने कहा, "मेरे लिए महल बना दे।" भूत ने कहा, "बन गया"। उसने कहा "रुपया ला दे"। उत्तर मिला "घर में कोष भरा हुआ है।" उसने कहा, "जंगल को काट कर साफ़ कर दे।" भूत बोला "जंगल कट गया।" उसने कहा, "वहाँ एक नगर बसा दे"। भूत ने कहा "नगर आबाद है, अब काम बताओ।" अब तो उस आदमी को घबराहट हुई और वह अपने मन में कहने लगा। यह विलक्षण आदमी है, जो काम कहो, पल भर में कर देता है, अब मैं क्या काम इसको दूँ। भूत ने कहा, झट पट काम बताओ, नहीं तो मैं तुमको खा जाऊँगा। भोले मनुष्य के पास कोई काम न रहा था। वह डर के मारे भागा और उस महात्मा के पास पहुँच कर कहने लगा, महाराज! बचाओ, यह भूत मुझे खाये डालता है। महात्मा ने पूछा, "क्या

बात है ?" उसने कहा "मैं उसको काम नहीं दे सकता। जो कुछ कहता हूँ, मुझे कहते देर लगती है, पर उसे करते देर नहीं लगती। अब मुझे धमकाता है कि यदि काम न देगा तो तुझे खा जाऊँगा।" यह कह ही रहा था कि भूत वहाँ आ पहुँचा और मुँह खोल कर उसकी ओर झपटा। दरिद्र डर के मारे काँपने लगा और फिर महात्मा से प्राण बचाने की प्रार्थना करने लगा। साधु ने कहा, अच्छा मैं तुझको इस कष्ट से बचाऊँगा। देख, इस कुत्ते की पूँछ टेढ़ी है, छुरी से काट डाल और भूत से कह। इसे सीधी करे। दरिद्र ने पूँछ काट ली और भूत से कहा, इसको सीधी कर दे। भूत ने पूँछ को हाथ में लेकर धीरे धीरे सीधा करना शुरू किया। वह सीधी हो गई, परन्तु जब उससे हाथ हटाया तो वह फिर टेढ़ी की टेढ़ी हो गई। उसने बार बार यत्न किया और दिन-रात उसमें लगा रहा, पर वह सीधी न हुई। निदान वह थक गया और कहने लगा कि ऐसी विपत्ति से कभी पहले मेरा पाला नहीं पड़ा था। भाई! मैं हार गया। अब तेरे साथ मेल करलूँ। जो कुछ मैंने तुझको दिया है, वह तू सब ले जा और मुझको छोड़ दे। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि कभी तुझको न सताऊँगा। दरिद्र ने प्रसन्नता से उसकी बात मान ली और उसको छोड़ दिया।

यह संसार भी कुत्ते की टेढ़ी पूँछ है। लोग सदा से इसके सीधा करने की चेष्टा करते आये हैं; सैकड़ों वर्ष तक यत्न किये; पर यह टेढ़ी की टेढ़ी ही रही। पहले मनुष्य को सोचना चाहिए कि कर्म करने का ढँग क्या है। मनुष्य चाहे कुछ करे, पर उसमें कट्टरपन, क्षुद्रमनस्कता और पक्षपात न होना चाहिए। जो लोग

कट्टर होते हैं, वे हो न हो दूसरों के साथ उलझते रहते हैं। सुनो, शिकागो (अमेरिका) में एक कुलीन स्त्री रहती है। उसने एक मकान बनाया है जिसमें और स्त्रियां व्यायाम (वरज़िश) आदि करने जाती हैं। एक दिन यह स्त्री शराब और तम्बाकू के विरुद्ध बातचीत कर रही थी। उसने मुझसे कहा कि "मैं इसका उपाय जानती हूँ"। मैंने पूछा "वह क्या है?" उसने कहा, "क्या तुमने मेरे मकान का हाल नहीं सुना।" इस स्त्री के मस्तिष्क में यह बात समा गई है कि जो मनुष्य उसके मकान में आवे उसमें चाहे कैसा ही व्यसन और दुर्गुण क्यों न हो, वह धर्मात्मा और सदाचारी बन जायगा। भारतवर्ष में भी ऐसे कट्टर मौजूद हैं। वे कहते हैं, यदि किसी स्त्री को दो तीन पति बनाने का अवसर मिल जाय तो उसकी सारी बुराई जाती रहेगी। इसी को कट्टरपन कहते हैं। बुद्धिमान् मनुष्य कट्टर नहीं होते। कट्टर आदमी कोई भी उपयोगी काम नहीं कर सकता। यदि संसार में कट्टरपन न होता तो अब तक इसकी बहुत अधिक उन्नति हो गई होती। जहाँ कट्टरपन होता है वहाँ क्रोध और द्वेष दोनों बढ़ते हैं। जिनसे लोग छोटी छोटी तुच्छ बातों के लिए आपस में लड़ने झगड़ने लगते हैं। यदि तुम उस कुत्ते की पूँछ की कहानी याद रक्खोगे तो कट्टरपन से बच जाओगे। संसार के लिए चिन्तित और व्यग्र होना व्यर्थ है। तुम चाहे कुछ करो, संसार ज्यों का त्यों रहेगा। सृष्टि परमात्मा की है; वही इसका अधीश्वर और नायक है। इसलिए उसकी आज्ञा से सृष्टि-नियम जो कुछ काम कर रहे हैं, उनके विरुद्ध कट्टरपन से अपनी शक्ति का अपव्यय मत करो।

जब तक तुम पर यह कट्टरपन का भूत सवार है, तब तक तुम्हारे लिए न तो यह संसार ही सीधा होगा और न तुम अपने को ही सीधा बना सकोगे।

तुमने सुना होगा, बहुत से मनुष्य एक विशेष प्रकार के फूल के विषय में विचित्र विश्वास रखते हैं। इसका नाम अँगरेज़ी में (मेफ़्लावर) है। वे कहते हैं, पहले वे पवित्र और धर्मात्मा थे, फिर बिगड़ गये और दूसरों को पीड़ा देने लगे! संसार में सर्वत्र यह दशा है, जो लोग मनुष्यों को सताना पाप समझते हैं, समय पर अत्यन्त निर्दय और हिंसक बन जाते हैं। मैंने दो प्रकार की लड़ाइयों का वर्णन सुना है। एक सेना की लड़ाई और दूसरी मेफ़्लावर की। अमेरिकावासी कहते हैं कि वे मेफ़्लावर से आये हैं। यह कट्टरपन का एक उदाहरण है। समय आवेगा, जब डाक्टर (वैद्य) लोग बता सकेंगे कि कट्टरपन भी एक रोग है। मैंने इस रोग के रोगी सैकड़ों ही देखे हैं। ईश्वर कट्टरपन से सबको बचावे।

क्या तुम्हारी समझ में जो शराब के विरुद्ध युद्ध करते हैं, वे ग़रीबों की सहायता करते हैं? नहीं। प्रत्येक कट्टर मनुष्य अपने काम का बदला चाहता है, जहाँ लड़ाई हुई, उनको लूट के माल की आशा होती है। तुम इन कट्टर मनुष्यों की गोष्ठी से बाहर निकल आओ। तुम्हें इनके वास्तविक प्रेम और सहानुभूति का हाल मालूम हो जायगा। उस समय तुम शराबी के साथ सहानुभूति करोगे और समझोगे कि शराबी भी आख़िर तुम्हारी तरह मनुष्य है। न मालूम किन कारणों से वह शराब पीने लगा है। सम्भव है कि उन्हीं कारणों की उपस्थिति में तुमको आत्मघात कर लेना

पड़ता। मुझको याद है कि अमेरिका की एक स्त्री ने मुझसे शिकायत की कि उसका पति शराब पीता है। मैं समझता हूँ कि उस देश में बहुत से पुरुष केवल अपनी स्त्रियों के अत्याचार से तङ्ग आकर शराब पीने लग जाते हैं और इस रीति पर अपने दुःख को कम करते हैं।

किन्हीं किन्हीं कर्कशा स्त्रियों के स्वभाव में अनुचित स्वतन्त्रता (स्वैरिता) का कुछ ऐसा प्रभाव जम गया है कि वह पति को छाया के समान अपने पीछे रखना चाहती हैं और जहाँ पति ने उनकी इच्छा या रुचि के विरुद्ध एक शब्द भी कहा, उस विचारे की ऐसी दुर्गति करती हैं कि उसको सिवा आत्मघात के और कुछ नहीं सूझता। इस प्रकार की स्त्रियाँ पश्चिमी देशों में पूर्वी देशों की चुड़ैलों से बढ़कर हैं। लोभी पादरी इनका पक्ष लेकर कहते हैं, "धन्य लेडियो! तुम्हीं संसार की शक्ति और शोभा हो" और इस प्रशंसा से फूल कर लेड़ियाँ अपने धन और बल से पादरियों की सहायता करती हैं। इस प्रकार के दृश्य यूरोप व अमेरिका में जहाँ तहाँ दृष्टि पड़ेंगे।

इस प्रसङ्ग के उपसंहार में तुमको इतनी बातें याद रखनी चाहिएँ:—

(१) हम तुम और सब लोग संसार के ऋणी हैं, और संसार हमारा ऋणी नहीं है। संसार की सहायता करने में हम अपनी सहायता आप करते हैं।

(२) इस संसार का नियामक और रक्षक ईश्वर है। इसको

तुम्हारी सहायता की कुछ भी आवश्यकता नहीं। ईश्वर की दया की छाया सदा इस संसार पर है, वह सर्वज्ञ और नित्य सदा इसकी रक्षा और सहायता में तत्पर रहता है। जब संसार सो जाता है, वह जागता रहता है। उसको कभी नींद नहीं आती और वह बराबर अपना काम करता रहता है।

(३) हमको किसी से द्वेष या वैर नहीं करना चाहिए। संसार पाप-पुण्य से मिश्रित है, इसमें बुराई भलाई सदा से होती आई है। हमारा धर्म है कि निर्बल और पापी मनुष्यों के साथ भी दया और सहानुभूति रक्खें।

(४) हमको कट्टर न बनना चाहिए, क्योंकि कट्टर मनुष्य में प्रेम और सहानुभूति नहीं होती। कट्टर मनुष्य कहा करते हैं कि "हम पापी से द्वेष नहीं करते, किन्तु पाप से द्वेष करते हैं।" परन्तु मैंने आज तक कोई भी ऐसा कट्टर नहीं देखा जो पाप और पापी में विवेक (तमीज़) करता हो। यह कह देना सहज है, पर विवेक करना ज़रा कठिन काम है।

(५) कभी अपने स्वभाव में क्रोध और चिड़चिड़ापन न आने दो। जितनी अधिक प्रीति और शांति तुममें होगी, उतना ही तुम्हारा परिणाम अच्छा होगा।

पाँचवाँ अध्याय

बेलाग रहना ही सच्चा त्याग है

जिस प्रकार हमारे कर्मों का फल हमको मिलता है, उसी प्रकार हम पर दूसरों के कर्म का और दूसरों पर हमारे कर्म का प्रभाव पड़ता है। जब कोई मनुष्य नीच कर्म करने लगता है तो दिन व दिन वह गिरने लगता है और जो अच्छे कर्म करता है, वह प्रति दिन ऊपर को उठता जाता है। कर्मों के इस अमिट प्रभाव का सदा चक्र चल रहा है और हमारे कर्मों का परस्पर एक दूसरे पर प्रभाव पड़ रहा है। प्राकृतिक विज्ञान का एक उदाहरण देता हूँ। कल्पना करो, मेरी मनोवृत्ति एक विशेष प्रकार की है, इसलिए जिन मनुष्यों की मनोवृत्तियाँ उससे मिलती हैं, उनकी प्रवृत्ति भी वैसी ही होगी जैसी कि मेरी होगी। यदि एक कमरे में कई सितारों की खूँटियाँ इस तरह अमेठी जायँ कि इन सब से एक ही तरह की आवाज़ निकले और सब अलग अलग रख दिये जायँ तो एक के तार के छेड़ देने से दूसरों में से वैसी ही आवाज़ अपने आप निकलने लगेगी। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि इन सब सितारों में एक स्वर भरा हुआ था। बहुत से मनुष्यों की वृत्तियाँ जो परस्पर अविरुद्ध हैं, इसी प्रकार एक विशेष भाव से भावित की जा सकती हैं। इसमें सन्देह नहीं

कि दूरी तथा अन्य कारणों से इन भावों में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य होगा। परन्तु इन सब भावों में एक जैसा प्रभाव अवश्य काम करता होगा। कल्पना करो, मैं एक बुरा काम कर रहा हूँ। मेरी वृत्ति एक विशेष अवस्था पर ठहरी हुई है। संसार में जितनी मनोवृत्तियाँ मेरी वृत्ति से मेल खाती हैं, सम्भव है मेरे मन के भावों का कुछ न कुछ प्रभाव उन सब पर पड़ता हो।

इस सादृश्य का विवरण इस प्रकार किया जा सकता है, जैसे प्रकाश की धारें एक स्थान-विशेष पर पहुँचने के लिए करोड़ों वर्षों तक भ्रमण करती रहती हैं। वैसे ही यह भी सम्भव है कि मन के भावों की लहरें उस समय तक हज़ारों वर्ष बराबर चक्कर में रहें, जब तक उनके प्रविष्ट होने के लिए कोई उपयोगी और अनुकूल अन्तःकरण न मिल जावे। इसलिए हमारे आस पास की हवा वैसेही भावों की धारों को लिये हुए होती है, जैसे कि उसमें बसाये जाते हैं। प्रत्येक भाव जो किसी मस्तिष्क-विशेष से निकलता है उस समय तक बराबर चक्कर लगाता रहता है, जब तक उसको अनुकूल मन न मिल जाय। जो मन जिस भाव के धारण करने की योग्यता रखता है, वह उसको दूर से भी खींच कर अपने पास बुला लेता है। पाप-कर्म्म करते समय मनुष्य की वृत्तियाँ उसी ढङ्ग की हो जाती हैं और उनसे जो भावों की लहरें उठती हैं, वे उसी ढङ्ग के रङ्ग में डूबी हुई होती हैं। यही कारण है कि पापी प्रायः पाप की ओर झुकता है। यही दशा धर्मात्मा की है। उसका मन सदा पवित्र भावों की धारों को जो हवा में चक्कर लगा रही हैं, अपनी ओर आकर्षण करेगा और इसलिए उसकी

निष्ठा धर्म में दृढ़ होती जायगी। बुराई करने से हमको दो प्रकार के भय हैं। (१) हम अपने मन को बुरे भावों के प्रवेश के लिए खोल देते हैं। (२) हम ऐसा बुरा आदर्श बना रहे हैं, जिससे न मालूम कितने यात्री मार्ग भूल कर भटकेंगे और हमें शाप देंगे। यह भी सम्भव है कि हमारी बुराई से सैकड़ों वर्ष के पीछे लोगों को हानि पहुँचे। बुराई करने से न केवल हम अपने को गिराते हैं, किन्तु दूसरों को भी हानि करते हैं। इसके विपरीत भलाई से हमारा अपना भी भला होता है और दूसरों को भी लाभ पहुँचता है। मनुष्य की अन्य वृत्तियों की भाँति पाप-पुण्य की वृत्तियाँ भी बाहर से अपनी सहायता ढूँढ़ती हैं।

कर्मयोग की शिक्षा के अनुसार मनुष्य के कर्म उस समय तक नष्ट नहीं होते; जब तक उनका फल नहीं हो लेता। प्रकृति की कोई शक्ति कर्म को अपना फल उत्पन्न करने से रोक नहीं सकती। यदि मैं बुरा काम करता हूँ तो मुझको उसका अनिष्ट फल अवश्य उठाना पड़ेगा। संसार में कोई शक्ति ऐसी नहीं है, जो इसकी प्रतिबाधक हो सके। इसी प्रकार यदि मैं अच्छा काम करता हूँ तो उसके इष्ट फल को भी कोई शक्ति नहीं रोक सकती। कर्मयोग के सम्बन्ध में अब एक अत्यन्त सूक्ष्म और विचारणीय सिद्धान्त यह आता है कि हमारे जितने कर्म हैं (चाहे वे शुभ हों चाहे अशुभ) परस्पर मिश्रित होते हैं। हम उनको अलग अलग करके यह नहीं कह सकते कि यह काम अच्छा है, यह बुरा। चाहे वह काम बिलकुल अच्छा हो या बिलकुल बुरा हो। कोई ऐसा कर्म नहीं है, जिस में बुराई व भलाई दोनों एक ही समय में न रहती हों। दृष्टान्त

की रीति पर समझो, मैं तुम्हारे सामने इस समय भाषण कर रहा हूँ। तुम समझते हो मैं अच्छा काम कर रहा हूँ। परन्तु याद रक्खो; इस समय वायु-मण्डल में करोड़ों जन्तु मेरी उच्चारण-क्रिया से मर रहे होंगे। इस प्रकार मैं साथ साथ बुराई भी करता जा रहा हूँ। अतः मनुष्य का कोई काम ऐसा नहीं है जिसको हम बिलकुल अच्छा या बिलकुल ही बुरा कह सकें। जिस काम का प्रभाव हम पर अच्छा पड़ रहा है, उसको हम अच्छा कहते हैं। तुम मेरी वक्तृता को इसलिए अच्छा समझते हो कि तुम पर उसका प्रभाव अच्छा पड़ रहा है। किन्तु वायुमण्डल के सूक्ष्म जन्तु ऐसा न समझेंगे। इन जन्तुओं को तुम नहीं देखते, तुम केवल अपने आस पास के मनुष्यों को देख रहे हो। मेरे भाषण का जो तुम पर प्रभाव पड़ रहा है, उसको तुम अनुभव कर रहे हो। परन्तु वायु-मण्डल के सूक्ष्म जन्तुओं पर इसका क्या प्रभाव पड़ रहा है, इसको तुम नहीं जानते। इसी प्रकार यदि हम अपने बुरे कामों की परताल करें तो हमको मालूम होगा कि उससे कहीं अच्छे परिणाम भी उत्पन्न होते होंगे। वह मनुष्य जो भलाई में मिली हुई बुराई को देखता है और बुराई में मिश्रित भलाई को भी देखने की योग्यता रखता है, वास्तव में बुद्धिमान् और कर्मयोग के रहस्य को जानने वाला है।

इस सिद्धान्त का परिणाम यह है कि हम चाहे कितनी ही चेष्टा करें, कोई काम ऐसा नहीं कर सकते जो बिलकुल ही अच्छा या बुरा हो और न कोई ऐसा कर्म हो सकता है जो साथ साथ सुख-दुःख देने वाला न हो। हम दूसरों को बिना कष्ट पहुँचाये न

जी सकते हैं, न श्वास ले सकते हैं। हमारे भोजन का प्रत्येक ग्रास ऐसा है जो दूसरों के मुख से छीना जाता है। हमारा जीना दूसरों के जीवन को नष्ट करने वाला है। यह भगवद्गीता का सिद्धान्त है। चाहे मनुष्य हो या पशु पक्षी; या कीड़े मकोड़े हों, इनमें से किसी न किसी को मरना अवश्य है। जब यह बात है तो किसी को हानि न पहुँचाने वाला सिद्धान्त किसी कर्म से सिद्ध नहीं हो सकता। तो अब अच्छे बुरे की कसौटी क्या रही? यही कि जिस काम में लाभ अधिक है, हानि कम; वह अच्छा है और जिसमें हानि अधिक लाभ कम है, वही बुरा है।

दूसरी विचारणीय बात यह है कि कर्म का अन्तिम परिणाम क्या है? प्रत्येक देश के निवासी विश्वास रखते हैं कि एक ऐसा समय आवेगा, जब यह सृष्टि स्वर्ग-धाम बन जावेगी। तब रोग, मृत्यु, दुःख और पाप नाम को भी न रहेंगे। यह बात सुनने में बहुत अच्छी मालूम होती है, भाव भी अच्छा है और इससे मूर्खों को धर्म के लिए कुछ प्रेरणा भी होती है। परन्तु ज़रा सोचने से पता लग जायगा कि ऐसा कभी हो नहीं सकता। जब कि पाप और पुण्य एक ही माता (सृष्टि) के गर्भ से दो यमल (जोड़ुवाँ) पुत्र उत्पन्न हुए हैं तब यह क्योंकर सम्भव है कि हम एक ही समय में कोई ऐसा काम कर सकते हैं, जिसमें पाप और पुण्य दोनों मिश्रित न हों। पूर्णता से तुम्हारा क्या अभिप्राय है? निर्दोष जीवन का होना असम्भव है। क्योंकि जीवन वास्तव में उस संग्राम का नाम है जो हमारी आन्तरिक और बाह्य वृत्तियों में हो रहा है और यदि हम इस संग्राम में परास्त हो जावें तो फिर जीवन समाप्त हो

जाता है। हमारे आध्यात्मिक और शारीरिक सम्बन्ध का ही नाम जीवन है। वह कोई पृथक् या स्वतंत्र वस्तु नहीं है। किन्तु मानसिक वा शारीरिक चेष्टाओं का मिश्रित परिणाम है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि जब यह झगड़े न रहेंगे, तब जीवन भी न रहेगा।

पूर्ण आनन्द और निराबाध सुख का (जो मुक्ति में प्राप्त होता है) आशय कुछ और है। जब वह अवस्था आ जायगी, तब यह संग्राम बन्द हो जायगा। परन्तु उस समय यह जीवन ही न रहेगा। जब तक जीवन है, न तो संसार के झगड़े शान्त होंगे और न उस अवस्था की प्राप्ति हो सकती है। जिस समय हम उस आनन्द का हज़ारहवाँ भाग भी प्राप्त कर लेंगे, यह संसार बिलकुल शान्त हो जायगा और हमारा नाम या चिह्न तक शेष न रहेगा। किन्तु इस संसार में इस पूर्णानन्द की आशा करना व्यर्थ है। हम पहले कह चुके हैं कि इस संसार की सहायता करने में हम अपनी सहायता आप करते हैं। कर्म करने का मुख्य तात्पर्य यह है कि हम अपने आप को पवित्र बना लेते हैं। दूसरों की भलाई की चेष्टा में हम अपने आप को भूल जाते हैं। यही सच्चा त्याग है, जो हमको अपने जीवन में सीखना है। मनुष्य मूर्खता से समझता है कि मैं अपने आपको प्रसन्न कर सकता हूँ। परन्तु वर्षों के लगातार आन्दोलन से उस की आँख खुल जाती है और वह समझने लगता है कि सच्ची प्रसन्नता स्वार्थ के नाश में है। निःस्वार्थ होकर ही हम अपने को शान्त और प्रसन्न कर सकते हैं। उदारता, संवेदना और सहानुभूति के पवित्र भाव ही हमारी स्वार्थ-बुद्धि को कम करते हैं। लोभी, कृपण और निर्दय ही अधिक

स्वार्थी होते हैं। स्वार्थ का नाश ही सच्चा त्याग है। यहाँ आकर ही हमको विदित होता है कि भक्ति, ज्ञान और कर्म इन तीनों का उद्देश्य एक ही है। भक्ति और कर्म मिल कर ही ज्ञान को उत्पन्न करते हैं। ज्ञान का उदय होते ही "मैं" का आवरण उठ जाता है और केवल "तू ही तूं" दिखाई देता है। मनुष्य चाहे इस रहस्य को समझे या न समझे, पर कर्म-योग उसे इस पदवी तक पहुँचा ही देता है। धार्मिक उपदेशक अमूर्त्त या अव्यक्त ईश्वर का नाम सुन कर सम्भव है कि चौक पड़ें, किन्तु वे अपने आस्तिक होने का घमण्ड रखते हैं। उनका चरित्र चाहे कैसा ही अच्छा हो, पर उनमें पूर्ण वैराग्य और सच्चा त्याग कभी उत्पन्न हो नहीं सकता। त्याग ही सदाचार का मूल है। बिना त्याग के यदि सदाचार हुआ भी तो कभी कभी वह अत्याचार के रूप में परिणत हो जाता है।

इस संसार में भिन्न भिन्न प्रकार के मनुष्य हैं। प्रथम ईश्वर कोटि वाले मनुष्य हैं, जिनमें पूर्ण वैराग्य है और जो नाना भाँति के कष्ट उठा कर यहाँ तक कि अपने प्राण-पण से भी दूसरों का उपकार करते हैं। जिनका कोई स्वार्थ होता ही नहीं और यदि होता भी है तो वह यही कि दूसरों का भला करना। ऐसे मनुष्य उच्च-कोटि के होते हैं। यदि किसी देश में ऐसे श्रेष्ठ व उदार मनुष्य सौ भी हों तो उसको निराश होने का कोई कारण नहीं है। परन्तु शोक है कि संसार में ऐसे मनुष्य बहुत ही कम होते हैं। दूसरे वे सज्जन मनुष्य हैं, जो उस समय तक परोपकार करते रहते हैं जब तक उनके स्वार्थ में बाधा नहीं पड़ती। ऐसे मनुष्यों की गणना मध्यम

कोटि में है। तीसरी श्रेणी में उन कुटिल स्वभाव वाले मनुष्यों की गणना है, जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरों के हित का नाश करते हैं। और ऐसे लोग अधम कोटि के हैं। राजर्षि भर्तृहरि जी का कथन है कि संसार में एक चौथी श्रेणी के मनुष्य और भी हैं। वे कौन हैं ? जो अकारण अर्थात् अपना भी कोई लाभ नहीं, पर दूसरों को हानि पहुँचाते हैं। जिस प्रकार उच्च-कोटि में वे धर्मात्मा मनुष्य हैं जो आप हानि उठा कर भी दूसरों को लाभ पहुँचाते हैं, वैसे ही अधम कोटि में वे नीच मनुष्य हैं, जो अपने लाभ के लिए दूसरों को हानि पहुँचाते हैं। परन्तु जो अकारण दूसरों की हानि करते हैं, अपना कोई लाभ नहीं तो भी दूसरे के हित में बाधा डालते हैं, ऐसे कुटिल-स्वभाव मनुष्यों के लिए मानव-कोश में कोई शब्द नहीं मिलता, जिससे उनको सम्बोधित किया जावे। श्रीमान् भर्तृहरि जी की सम्मति में सबसे उच्च कोटि के वे मनुष्य हैं, जिनके हृदय में सच्चा त्याग है और जो दूसरों के लिए अपना जीवन-दान कर देते हैं।

संस्कृत में दो शब्द हैं, प्रवृत्ति और निवृत्ति। संसार से सम्बन्ध का नाम प्रवृत्ति है और संसार से उपरत होना निवृत्ति कहलाती है। प्रवृत्ति में "मेरा" "तेरा" पन रहता है। काम, अहङ्कार और स्वार्थ के भाव इसमें बने रहते हैं; पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा इन तीनों एषणाओं के संस्कार जागृत रहते हैं। दूसरे शब्दों में प्रवृत्ति की व्याख्या यों भी की जा सकती है कि दूसरों से छीन कर सारा धन और ऐश्वर्य अपने अधिकार में कर लिया जावे। निवृत्ति मार्ग वह है, जिसमें मनुष्य कर्म तो करता

है, पर अपने लिए कुछ नहीं करता। अपना पराया यह भाव ही निवृत्ति में नहीं रहता। कर्म से विमुख होने का नाम निवृत्ति नहीं है किन्तु प्रवृत्ति और निवृत्ति ये दोनों कर्म के ही भेद हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि प्रवृत्ति में कर्म अपने लिए किया जाता है और निवृत्ति में दूसरों के लिए; या यह कि सकाम कर्म का नाम प्रवृत्ति है और निष्काम कर्म का नाम निवृत्ति; विना त्याग और वैराग्य के कोई निवृत्ति-मार्ग का पालन नहीं कर सकता। कर्मयोग का यही सबसे बड़ा पद है और यही उसका अन्तिम फल है।

चाहे मनुष्य दर्शन-शास्त्र से अनभिज्ञ हो, चाहे वह ईश्वर पर भी विश्वास न रखता हो और उसने अपने जीवन में एक बार भी ईश्वर से प्रार्थना न की हो। परन्तु यदि कर्मयोग की प्रबल शक्ति ने उसको इस अवस्था पर पहुँचा दिया है कि वह दूसरों के लिए अपना जीवन तक अर्पण कर सकता है तो वह उसी पदवी का अधिकारी है जो ज्ञान, उपासना और भक्ति से प्राप्त होती है। क्योंकि इन सबका अन्तिम उद्देश तथा फल एक ही है और ये सब अपने आपे को मिटाने वाले हैं। दूसरों की भलाई में अपने जीवन को अर्पण करने वाला (चाहे उसके धार्म्मिक वा दार्शनिक सिद्धान्त कुछ ही हों) सब का पूजनीय तथा आदरणीय होगा। यहां जाति और धर्म के प्रश्न को अवकाश ही नहीं होता। वे लोग जो उसके साथ धार्मिक भेद रखते हैं, जब उसके त्याग व औदार्य आदि उच्च भावों को देखेंगे तब उसके हृदय में उसके लिए सच्चा गौरव और आदर उत्पन्न होगा। ईसाई-देशों में एक भी ऐसा कट्टर

ईसाई न मिलेगा जिसने, "उडवन आरनेल्ड" की पुस्तक "लाइट आफ़ एशिया" को पढ़ कर "गौतम बुद्ध" के महत्त्व में अपने सिर को न झुका दिया हो। बुद्ध ने त्याग और सदाचार के सिवा ईश्वर के सम्बन्ध में कोई भी शिक्षा नहीं दी, परन्तु फिर भी संसार में उसका कितना मान है। कट्टर मनुष्य इस बात को नहीं देखता कि जिसके साथ उसका मतभेद है, उसका भी उद्देश या अन्तिम लक्ष्य वही है, जो कि इसका अपना है। ईश्वर पर सच्चा विश्वास रखने वाला और धर्म आचरण करने वाला—ये दोनों एक ही स्थान पर पहुँचते हैं। ईश्वर-भक्त जो कुछ करता है, वह सब ईश्वर के अर्पण कर देता है। धर्मात्मा भी अपने लिए कुछ नहीं करता, किन्तु दूसरों के लिए करता है। जिस प्रकार ज्ञानी ज्ञान से ममता को दूर कर देता है, इसी प्रकार त्यागी भी त्याग से ममता को अपने पास नहीं आने देता। यही वह उच्च पद है कि जहां आकर कर्म, भक्ति और ज्ञान ये तीनों एक हो जाते हैं। प्राचीन समय के आध्यात्मिक उपदेष्टा कहा करते थे कि संसार ईश्वर नहीं है अर्थात् ईश्वर और वस्तु है और संसार और वस्तु है और यह भेद अनुचित नहीं है। संसार से तात्पर्य्य स्वार्थ है और ईश्वर में स्वार्थ या काम का लेश नहीं। जो संसार में लिप्त होते हैं, वे ही स्वार्थी हैं जो ईश्वर-परायण होते हैं, वे संसार में रहते हुए भी निष्काम हो सकते हैं। सम्भव है कोई मनुष्य राजसिंहासन पर बैठा हुआ और स्वर्ण-जटित मन्दिरों में रहता हुआ भी निःस्वार्थ जीवन व्यतीत करे, उसका मन ईश्वर में लगा है। दूसरा मनुष्य झोपड़े में रहता हुआ और चिथड़े पहनता हुआ कामुक बना रहे तो यही संसारी है।

अब हम फिर अपने प्रकृत विषय पर आयें हैं। कोई शुभ कर्म ऐसा नहीं है, जिसमें अशुभ का अंश न हो और न कोई अशुभ कर्म ऐसा है, जिसमें कुछ न कुछ शुभ का अंश मिश्रित न हो। जब यह दशा है तो कहिए कोई क्या करे ? संसार में ऐसे मनुष्य वा समुदाय भी हुए हैं, जिन्होंने दूसरों की हिंसा से बचने के लिए अपनी हिंसा करना उचित समझा क्योंकि उनकी समझ में जीवित रहने से किसी न किसी प्राणी के कष्ट में पड़ने या किसी के प्राणघात होने का भय रहता है। उनकी दृष्टि में मर जाना ही पापों से बचना है । जैनियों का इस सिद्धान्त पर अधिक विश्वास है। देखने में तो यह सिद्धान्त अच्छा मालूम होता है परन्तु इसकी मीमांसा केवल भगवद्गीता करती हैं। गीता कहती है "कर्म किये जाओ, पर बेलाग बने रहो" जो कर्म बुरे या भले हम अपने लिए करते हैं, उनका फल बुरा या भला हमको ही मिलता है। किन्तु जो कर्म हम अपने लिए नहीं करते उनका फल भी हमारे लिए नहीं होता। यदि कोई मनुष्य यह जानता हुआ कि "मैं अपने लिए काम नहीं कर रहा हूँ" हज़ारों मनुष्यों को मार डाले या आप ही मर जावे तो वह न तो मारने वाला है और न मरने वाला। इसलिए कर्मयोग की यह शिक्षा है कि "संसार को न छोड़ो, उसमें रह कर सदा कर्म करते रहो, पर यह बात स्मरण रक्खो कि तुम संसार नहीं हो और न यह संसार तुम्हारे लिए है। किन्तु संसार में तुम हो और संसार के लिए तुम हो। अपने आप को बिलकुल मिटा दो, सारे विश्व को अपना ही रूप समझो।" मूर्ख माता-पिता अपने पुत्रों को यह प्रार्थना सिखाते हैं। "हे ईश्वर ! तूने मेरे लिए चन्द्र, सूर्य

बनाये"। माना ईश्वर के लिए सिवा इन बच्चों के खिलौने बनाने के और काम ही न था। ऐसी तुच्छ बातें अपनी सन्तान को कभी न सिखाओ। और भी मनुष्य हैं जो दूसरी प्रकार की मूर्खता करते हैं। वे कहते हैं कि ये सब जीव-जन्तु हमारे लिए बनाये गये हैं, इनको मारो और खाओ। यह संसार केवल मनुष्य का भोगायतन है। ये सब स्वार्थी और लोलुप मनुष्यों के क्षुद्र और नीच भाव हैं। सिंह कह सकता है कि "मनुष्य मेरे लिए बनाये गये हैं।" और वह मूर्ख मनुष्यों के समान प्रार्थना कर सकता है। "हे ईश्वर! मनुष्यों को मेरे पास भेज दे कि मैं इनको खाकर अपनी भूख बुझाऊँ। तैने इनको मेरे लिए बनाया है और ये मुझसे भागते हैं"। यदि संसार हमारे लिए बना है तो हम भी संसार के लिए बने हैं। यह कहना कि संसार हमारे भोग-विलास के लिए बनाया गया है, बिलकुल असत्य है। यदि यह सत्य होता तो हम इन भोग-विलासों को छोड़ कर संसार से मुँह न मोड़ते। संसार में हम नहीं रहते, पर भोग-विलास हमारे पीछे भी रहते हैं। इससे तो यह सिद्ध है कि हम भोगों को नहीं भोगते, किन्तु भोग हमें भोग लेते हैं। अतः संसार हमारे लिए नहीं, किन्तु हम संसार के लिए हैं*।

---

* इस सचाई को राजर्षि भर्तृहरिजी ने अपने वैराग्य शतक में किस उत्तमता से दिखलाया है:—"भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः। कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः"॥ अर्थात् हमने भोग नहीं भोगे किन्तु भोगों ने हमको भोग लिया, हमने तप नहीं तपा, किन्तु तीन तापों में हम तप गये। समय नहीं गया, हम चल दिये। तृष्णा पुरानी नहीं हुई, हम बूढ़े हो गये। [अनुवादक]

कर्म करने के लिए सब से पहली बात यह है कि हमारा उसमें राग (लगाव) न हो, केवल साची और तटस्थ होकर कर्म किये जाओ। मेरे पूज्य और वृद्ध गुरु कहा करते थे। "अपने ख़ास बच्चों को तुम उसी दृष्टि से देखा करो, जिस दृष्टि से उनकी धात्री (दाया) उनको देखा करती है। दाया तुम्हारे पुत्र को गोद में लेकर ख़ूब खिलावेगी और प्यार करेगी, परन्तु जहाँ तुमने उसको अलग किया, वह उसी समय अपना डेरा डंडा उठा कर चल देगी और उसको तुम्हारे घर से कुछ भी सम्बन्ध न रहेगा, सब कुछ भूल जायगी और लड़कों के वियोग से उसे कुछ भी दुःख न होगा। यदि तुम सोचो तो अपने ही लड़कों के साथ तुम्हारी भी यही दशा है। यदि ईश्वर पर तुम्हारा विश्वास है तो ये सारे पदार्थ जो तुमको प्राप्त हुए हैं, सब उसी के हैं। तुम्हारा इन पर कुछ भी अधिकार नहीं। न तुम किसी की सहायता करते हो और न किसी को तुम्हारी सहायता की आवश्यकता है। जिसने यह जगत् बनाया है और जो इन सब पदार्थों का वास्तविक स्वामी है वही हमारी, तुम्हारी, सबकी सहायता कर रहा है। तुमको केवल दूसरों की सहायता करने का अधिकार सौंपा गया है और यह कैसा पवित्र अधिकार है। इससे हमको प्रसन्नता होती है और शिक्षा मिलती है। वह शिक्षा जो हमको और तुमको इस संसार में सीखनी है और जिस समय हमने उसको भली भाँति समझ लिया, फिर हम इस संसार में कभी दुःखी न होंगे। हम चाहे जिस समाज में रहें, जो काम करें, हमको कोई हानि न पहुँचा सकेगा। तुम्हारी स्त्री हो, पति हो, माता-

पिता हों, पुत्र वा पुत्रियां हों, नौकर-चाकर हों, बड़े बड़े पद और कार्य्य-भार हों, यदि तुम इस सिद्धान्त पर काम करो अर्थात् संसार के हो कर न रहो तो तुमको कभी क्लेश न होगा। तुमको बहुत से मित्रों का वियोग हुआ होगा। क्या वे फिर लौट कर संसार में आवेंगे? और क्या यह जीवन-मरण का चक्र कभी बन्द होगा? कभी नहीं। अतएव अपने मस्तिष्क से इस संस्कार को निकाल डालो कि संसार तुम्हारी किसी बात की अपेक्षा रखता है। या तुम किसी की सहायता कर सकते हो। यह अभिमान है, स्वार्थ है, जो तुमको बन्धन में जकड़ता है। जब तुम किसी को कुछ दान करो तो उससे प्रत्युपकार की आशा न करो। उसकी कृतघ्नता तुम्हें कुछ हानि न पहुँचायेगी। तुमने उसको जो कुछ दिया है, वह उसका अधिकारी था। उसके कर्म ने तुम्हें देने के लिए बाध्य किया। तुम्हारे कर्म ने तुमको भारवाही बना रक्खा था, फिर तुमको क्यों दान का अभिमान हो। तुम उसके कोषाध्यक्ष बने थे; वह अपना रुपया तुमसे ले गया। सोचो, समझो, इसमें अभिमान की बात क्या है? जहाँ तुम बेलाग बने, फिर न कोई तुम्हारे लिए अच्छा है, न बुरा। केवल स्वार्थ से ही भलाई, बुराई पैदा होती है। इस रहस्य का समझना ज़रा कठिन है, पर समय आवेगा, जब तुम इसको समझोगे। तब संसार को तुम्हारे ऊपर कठोरता करने का अवसर हाथ न आवेगा। मनुष्य का आत्मा स्वतन्त्र है, वह स्वार्थ और काम के वश में हो कर ही अपने को परतन्त्र बना लेता है। निष्काम और निःस्वार्थ होना ही उस परतन्त्रता पर विजय पाना है। तुम स्वयं संसार के दास बन कर दूसरों की परतन्त्रता

स्वीकार करते हो। जब संसार के मान, अपमान, हर्ष, शोक और प्रिय, अप्रिय तुम पर अपना प्रभाव न डाल सकेंगे, तब तुम स्वाधीन बनोगे।

व्यास एक बड़ा ऋषि था, वह वेदान्त सूत्रों का बनाने वाला भी था। उसके पिता और पितामह ने बहुत कुछ यत्न किया कि वह ज्ञानी वा तत्त्वदर्शी बन जावें, पर सफलता नहीं हुई। किन्तु उसका पुत्र शुकदेव पूर्ण ज्ञानी तथा आत्मदर्शी हुआ। व्यास ने अपने पुत्र को ज्ञान सीखने के लिए राजा जनक के पास भेजा। जनक "विदेह" कहलाता था। 'विदेह' शब्द का अर्थ यह नहीं है कि जिसका देह न हो, किन्तु देह की ममता जिसको न हो, उसको विदेह कहते हैं। वह एक राजा होने पर भी राज्य को क्या शरीर को भी अपना नहीं समझता था। शुकदेव बालकपन में ही शिक्षा पाने के लिए उसके पास आया। राजा को मालूम हो गया कि व्यास-पुत्र उसके पास ज्ञान सीखने के लिए आ रहा है। इसलिए उसने पहले से ही कुछ प्रबन्ध कर रक्खा था। जब शुकदेव राजप्रासाद के द्वार पर पहुँचा तब द्वारपालों ने उसको बैठने के लिए जगह तो दे दी, पर किसी ने उसकी बात नहीं पूछी। तीन दिन, तीन रात तक वह वहीं बैठा रहा, किसी ने उससे कुछ न पूछा। तीन दिन के पश्चात् राजा के मन्त्री उसके पास आये और बड़े आदर व सम्मान से उसको रत्नजटित घरों में ले गये। वहाँ सुगन्धित जल से स्नान कराया, उत्तम वस्त्र पहनाये और सब ऐश्वर्य के सामान उसके लिए उपस्थित कर दिये। आठ दिन तक इसी प्रकार उसकी परिचर्य्या की गई, परन्तु इन सब क्रियाओं का उसके मन

पर कुछ भी प्रभाव न हुआ। न वह अपमान से क्रुद्ध हुआ था और न मान से प्रसन्न। दोनों दशाओं में वह निरीह निःस्पृह पाया गया। इसके पश्चात् वह राजा जनक के सामने लाया गया। राजा ने उस के हाथ में एक दूध का भरा हुआ पात्र दिया और कहा कि इस मन्दिर की सात परिक्रमा करो, पर सावधान रहो कि दूध की एक बूँद न गिरने पावे। लड़के ने प्याला हाथ में लिया। यद्यपि वहाँ नृत्य-गान और अनेक भाँति के क्रीड़ा-कौतुक हो रहे थे, परन्तु लड़के का ध्यान अपने काम पर रहा। वह राजा की आज्ञानुसार सात बार परिक्रमा दे आया। और एक बूँद भी प्याले में से न गिरी। जब वह अपना काम समाप्त करके राजा के पास पहुँचा तब राजा ने कहा। जो कुछ शिक्षा तेरे पिता ने तुझको दी है, वह ठीक है। मैं भी केवल उसी का अनुवचन कर सकता हूँ, इसलिए तू घर जा, तू पूर्ण ज्ञानी है और तेरे हृदय में विवेक का दीपक जल रहा है।

शुकदेव अपने मन को यहाँ तक वश में किये हुए था कि किसी प्रकार के बाह्य दर्शन या प्रलोभन उसको अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकते थे। ऐसे मनुष्य को कोई बन्धन में नहीं डाल सकता। वह जहाँ भी रहे, जो कुछ भी करे, सब से निर्लेप है।

संसार के विषय में मनुष्यों के दो प्रकार के मत हैं। किन्हीं लोगों का मत है कि संसार बड़ा भयानक और दुःखमय है। दूसरे कहते हैं, संसार बड़ा रमणीय और सुख का स्थान है। जिन्होंने अपने मन और इन्द्रियों को वश में नहीं किया, उनके लिए यह संसार वास्तव में भयानक है और जिन लोगों ने आत्म-संयम-रूप

शस्त्र से इस दुर्जय मन को जीत लिया है, उनके लिए यह संसार एक विचित्र और सुन्दर अद्भुतालय है। जैसे अजायबख़ाने की वस्तुओं के बनने और बिगड़ने का दर्शक पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता, ऐसे ही इस संसार की वस्तुओं के बनने और बिगड़ने का उस मनुष्य पर कि जिसने अपने मन को जीत लिया है कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। प्रत्येक वस्तु अपने अवसर और स्थान पर अच्छी और शोभित मालूम पड़ती है। जो लोग संसार को भयानक या नरक बतलाते हैं, जब वह मन को जीत कर आत्मशासन में प्रवेश करते हैं, तो यही संसार उनको स्वर्ग से भी अधिक सुखदायक मालूम पड़ता है। कर्मयोग बातों से नहीं प्राप्त होता, किन्तु अभ्यास से सिद्ध होता है। जब हम निष्काम होकर इसका आरम्भ करते हैं तब थोड़े ही दिनों में यह अपना फल दिखाता है और हम में त्याग और वैराग्य के संस्कार प्रबल होने लगते हैं। जो अभिमान स्वार्थ और ममत्व के संस्कारों को प्रथम मन्द और अन्त में जाकर निर्मूल कर देते हैं। तब यह संसार हमारे लिए शान्ति-धाम बन जाता है और चारों ओर हमको आनन्द ही आनन्द दीख पड़ता है। यह कर्मयोग का वास्तविक परिणाम है।

योग अनेक प्रकार के हैं, परन्तु उनमें परस्पर विरोध नहीं है, सबका अन्तिम उद्देश एक ही है। यदि हम विश्वास और अभ्यास से काम लें तो सब हमको एक ही अभीष्ट स्थान पर पहुँचाते हैं। सारी शक्ति अभ्यास में छिपी हुई है। पहले सुनो, फिर मनन करो, तत्पश्चात् कर्म करो; प्रत्येक प्रकार का योग यही शिक्षा देता है। पहले श्रवण, मनन और निदिध्यासन हैं, इन्हीं को ज्ञान का साधन

भी कहते हैं। तत्पश्चात् साक्षात्कार है, इसी को ज्ञान का फल भी कहते हैं। प्रत्येक वस्तु का ज्ञाता और व्याख्याता तुम्हारा आत्मा है। यथार्थ में तुम अपने शिक्षक आप ही हो। बाह्य गुरु या उपदेष्टा तुम्हें केवल उपाय बतलाता है, जब तक तुम्हारा आन्तरिक उपदेशक आत्मा जो तुम्हारे अन्तःकरण में विद्यमान है उनको ग्रहण या आचरण न करेगा, तुम उनसे कुछ भी लाभ नहीं उठा सकते। यद्यपि तुम्हारा आत्मा तुमको प्रत्येक समय उपदेश करता रहता है, तथापि जब तक तुम्हारा मन एकाग्र नहीं होता तब तक तुम उसके उपदेश पर ध्यान नहीं देते। इसलिए जब तुम अपने मन को एकाग्र कर लोगे तब तुम्हें अपने आत्मा में ही सब कुछ दीखने लगेगा और तुम्हारे सारे संदेह और विकल्प स्वयं निवृत्त हो जायँगे। अभ्यास इस एकाग्रता को दृढ़ करता है। अभ्यास से पहले अनुभव, फिर इच्छा और फिर काम करने की शक्ति उत्पन्न होती है और इस शक्ति से शरीर की सब नाड़ी और नसें संचालित होती हैं। यहाँ तक कि सारा शरीर निष्काम कर्मयोग का साधन बन जाता है और तब साधन को त्याग और वैराग्य की सिद्धि प्राप्त होती है। यह सिद्धि किसी सिद्धान्त, विश्वास या विशेष प्रकार की शिक्षा पर निर्भर नहीं है। चाहे साधक किसी मत पर विश्वास रखने वाला या किसी सम्प्रदाय पर चलने वाला हो, अभ्यास और एकाग्रता से समान लाभ उठा सकता है। किन्तु प्रश्न केवल यह है कि क्या तुम में निष्काम भाव है ? यदि है तो तुम बिना किसी धर्म-पुस्तक को पढ़ने के भी धर्मात्मा बन सकते हो। चाहे मन्दिर, मसज़िद या गिरजे में जाओ या न जाओ; कर्मयोग में

इनकी आवश्यकता नहीं। वहाँ केवल तुम्हारा हृदय-मन्दिर ही उपासनालय है। हमारे संपूर्ण योग बिना जाति, देश और धर्म-भेद के मनुष्य-मात्र को इसी स्थान पर पहुँचाते हैं। क्योंकि उन सबका तात्पर्य्य मनुष्य को बन्धन से छुड़ा कर मुक्ति दिलाने का है। केवल मूर्ख और अज्ञानी पुरुष ही कहा करते हैं कि ज्ञान और कर्म में भेद है। विद्वान् लोग जानते हैं कि यद्यपि उनकी अवस्था और अधिकार में कुछ भेद हो, तथापि उन दोनों का लक्ष्य और उद्देश्य एक ही है।

छठा अध्याय

मुक्ति

कर्म का फल भी कर्म ही कहलाता है। मन, वचन और कर्म से जो फल उत्पन्न होता है, वह भी काल पाकर कर्म-चक्र में सम्मिलित हो जाता है। इस प्रकार कर्म से फल और फल से कर्म का चक्र संसार में सदा चलता रहता है। वस्तुतः कर्म में कार्य्य-कारण-भाव दोनों रहते हैं। जहाँ कोई कार्य्य होगा, वहाँ उसका कारण अवश्य होगा चाहे वह गुप्त हो, इसी प्रकार कारण की उपस्थिति में कार्य्य भी विना हुए न रहेगा चाहे अभी न हुआ हो। यह कर्म का सिद्धान्त जिसको हमारा शास्त्र बतलाता है, संसार भर में सच्चा माना गया है। जो कुछ हम देखते, छूते या करते हैं, वह कर्म है। जहाँ उससे कुछ फल उत्पन्न होते हैं, वहाँ उन फलों के सम्बन्ध में बहुत से नये कर्म भी बन जाते हैं। जहाँ कहीं एक कर्म हो रहा है वहाँ उसके सम्बन्ध में अनेक कर्मों का बार बार होना आवश्यक और प्रत्यक्ष है। नैयायिक (तार्किक) लोगों ने इस के लिए एक विशेष परिभाषा "व्याप्ति" नियत कर ली है। उनके मतानुसार इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में हमारे सम्पूर्ण मानसिक, वाचिक और कायिक कर्मों में व्याप्ति काम कर रही है।

मन में एक विशेष प्रकार का सङ्कल्प उठते ही हम देखते हैं कि उससे सम्बन्ध रखनेवाले और अनेक प्रकार के भाव तरङ्गों के समान उत्पन्न हो जाते हैं। यह एक प्रत्यक्ष बात है। संस्कृत में इसी को "व्याप्ति" कहते हैं। बाह्य और आन्तरिक जगत् में सर्वत्र यह सिद्धान्त समान रूप से काम करता है। एक भाव के पश्चात् दूसरे भाव का आना या युगपत् अनेक सम्बद्ध भावों का प्रादुर्भूत होना इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

दूसरी बात विचारणीय यह है कि यह कर्म का सिद्धान्त एक देशी है या सर्वदेशी? यह पृथिवी जिस पर हम रहते हैं, उस अपरिमित ब्रह्माण्ड का, जो देश काल और निमित्त के संयोग से बना है एक छोटा सा भाग है। इससे स्पष्ट है कि यह संसार नैमित्तिक है। इससे आगे चल कर फिर कोई नियम (क़ानून) या उसका प्रभाव (असर) नहीं रहता। जब हम संसार का वर्णन करते हैं तो उससे हमारा अभिप्राय ब्रह्माण्ड के उस भाग से होता है, जिसको हमारे मन ने आक्रान्त (सीमाबद्ध) किया हुआ है। और यह ऐन्द्रिय जगत् है। जिसमें हम देखते, छूते, सुनते, अनुभव करते, सोचते और समझते हैं। इससे आगे चल कर फिर कार्य-कारण का नियम नहीं रहता। जो वस्तु हमारे मन और इन्द्रियों से परे है, वहाँ न प्रत्यक्ष का गम्य है न अनुमान का। इस सृष्टि में जहाँ तक नाम-रूप की छाप लगी हुई है, वहीं तक कार्य-कारण-भाव की सीमा है और वहीं प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द काम करते हैं। इसी जगत् में प्राकृत नियम अपना काम करते हैं। यद्यपि यहाँ अपनी मानसिक शक्ति से हम काम लेते हैं, तथापि पूरी स्वतन्त्रता के न

होने से हमारी आत्मिक-शक्ति दबी रहती है। यहाँ हमारा ज्ञान भी उस सीमा के भीतर और उन्हीं प्राकृत नियमों के अनुसार होता है। जिस वस्तु को हम जानते हैं, या जिसका जानना सम्भव है वह उस प्राकृत नियम के अधीन है, जिसके द्वारा हम अपने मन और इन्द्रियादि से काम लेते हैं और जहाँ अधीनता है, वहाँ "स्वतन्त्रता" इस शब्द का प्रयोग करना भी अनुचित है। परन्तु वह वस्तु जिसने देश, काल और निमित्त के संयोग से अपनी दशा और शक्ति में परिवर्तन स्वीकार किया है। जो पहले सम्पूर्ण शक्तियों का केन्द्र था और अब भी है (चाहे प्रकृति के आवरण ने कुछ काल के लिए उन शक्तियों को दबा दिया हो) स्वरूप से मुक्त (पूर्ण स्वतन्त्र) है। उसमें तभी तक यह बन्धन है, जब तक देश, काल और निमित्त का संयोग है। जहाँ यह संयोग मिटा, वहाँ वह फिर शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है। वह मुक्ति से आकर बन्धन में पड़ा है, बन्धन से छूट कर फिर मुक्त हो जाता है।

यह प्रश्न उपनिषदों में आता है कि यह संसार कहाँ से उत्पन्न हुआ, किसमें रहता है और कहाँ जायगा? इसका यह उत्तर दिया गया है कि वह मोक्ष से आता है, बन्धन में रहता है और फिर मोक्ष को चला जायगा। अतएव जहाँ कहीं और जब कभी हम मनुष्य का वर्णन करते हैं, वहाँ और तब हमारा यह अभिप्राय होता है कि यह मनुष्य उस अनन्त, अखण्ड और सर्वव्यापक सत्ता का एक अंश है। यह ब्रह्माण्ड स्वयं उस अनन्त सत्ता में एक बिन्दु की उपमा रखता है। हमारे कर्म और उनके फल, इच्छायें और आशायें सब इसी ऐन्द्रिय-जगत् से सम्बन्ध रखते हैं और

हमारी उन्नति और अवनति भी इसी के भीतर हो रही है। यह आशा करना कि यह जगत् सदा रहेगा एक बाल-चेष्टा है। इसके अस्तित्व का कारण केवल हमारा मन है। स्वर्ग भी इसी जगत् का एक कल्पित रूपान्तर है। तुम ज़रा सोचो तो सही इस बात की इच्छा करना कि अनन्त और अपरिमित सत्ता हमारे इस परिमित जगत् के अनुसार हो कैसी अनुचित और बालेच्छा है। जो मनुष्य इस संसार पर ऐसा मोहित हो गया है कि बार बार इस संसार में ही जन्म लेकर रहने की इच्छा प्रकट करता है, वह आध्यात्मिक पद से यहाँ तक गिर गया है कि उस सर्वोच्च पद की भावना तक अपने मन में नहीं कर सकता। वह इस छोटे से जगत् को ही सब कुछ मान रहा है, उसको उस अनन्त सत्ता का ज्ञान ही नहीं है। उसकी धारणा क्षणिक सुख-दुःख और हर्ष-शोक तक ही पर्याप्त है। वह परिमित को ही अपरिमित और पराधीनता को ही स्वाधीनता समझ रहा है। भगवान् बुद्ध कहते हैं कि वह तृष्णा के समुद्र में डूबा हुआ इस जीवन को ही सर्वस्व समझता है। सम्भव है इस जगत् से बाहर करोड़ों प्रकार के सुख हों, असंख्य उन्नति के सोपान हों, अगणित नियम अपना काम करते हों। क्योंकि जिस जगत् में हम रहते हैं वह उस अनन्त ब्रह्माण्ड का समुद्र में विन्दुवत् एक छोटा सा अंश है।

मोक्ष प्राप्त करने के लिए हमको इस संसार की सीमा से बाहर जाना होगा, यहाँ उसकी आशा रखना व्यर्थ है, क्योंकि वह यहाँ नहीं है। पूर्ण शान्ति जिसमें सारे प्राकृत विकार नष्ट हो जाते हैं, इस संसार में नहीं है, न स्वर्ग और न वैकुण्ठ में है, न किसी ऐसे

स्थान में मिल सकती है जहाँ हमारा मन और चित्त पहुँच सकता है। ऐसे किसी स्थान में मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि ये सारे स्थान हमारे सीमाबद्ध संसार में होंगे और देश, काल और निमित्त से घिरे हुए होंगे। यह सम्भव है कि आकाश-मण्डल में ऐसे अगणित लोक या स्थान हों, जहाँ अत्यन्त सूक्ष्म सृष्टि बसती हो और वहाँ के भोग-विलास और सुख-साधन यहाँ की अपेक्षा उत्तम हों। परन्तु ये लोक और स्थान भी इसी संसार के अंतर्गत हैं और इसलिए बन्धन के नियम से मुक्त नहीं हो सकते। मुमुक्षु को इनसे भी परे जाना होगा। जहाँ यह संसार समाप्त होगा, वहीं से उस परम पद का आरम्भ होता है। ये सुख-दुःख और हर्ष-शोक और इनका संवेदन सब यहाँ ही समाप्त हो जाता है। वहाँ केवल आत्म-दर्शन और तज्जनित आनन्द शेष रहता है। जब तक हम इस परिवर्त्तन-शील और क्षण-भङ्गुर जगत् से बेलाग नहीं होते और जब तक तृष्णा की तरङ्गें हमें मोह के समुद्र में बहाये लिये जारही हैं, तब तक हम मुक्ति के अधिकारी नहीं बन सकते और न शान्ति के तट पर पहुँच सकते हैं। केवल विवेक का पोत (जहाज़) ही हमको इस दुस्तर समुद्र के पार लगा सकता है। विवेक हमको बतलाता है कि उस परम स्वाधीनता (मुक्ति) के प्राप्त करने का (जो मनुष्य-जीवन का उद्देश है) केवल एक ही उपाय है और वह यह है कि इस असार जीवन का मोह त्याग दिया जावे। स्वर्ग, नरक, शरीर, मन और इन्द्रिय इन सब से विरक्ति स्वीकार कर ली जाय। क्योंकि ये सब परिमित और क्षणिक हैं। बन्धन से छुटकारा पाने के लिए आवश्यक

है कि कार्य्य-कारण और उनके नियमों के सीमा से हम बाहर हो जावें।

परन्तु इस संसार का छोड़ना बहुत कठिन काम है। विरले ही मनुष्य इस योग्य हो सकते हैं। हमारे शास्त्रों में इसके दो साधन बतलाये गये हैं। एक को "नेति, नेति" "यह नहीं, यह नहीं" कहते हैं। दूसरे को "इति, इति" "यह है, यह है" कहते हैं। पहला निवृत्ति-मार्ग और दूसरा प्रवृत्ति-मार्ग कहलाता है। इनमें से पहला अत्यन्त कठिन है। उसकी केवल वेही मनुष्य साधना कर सकते हैं, जिन्होंने अपने इन्द्रिय और मन पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करके संसार और उसके विषयों को विषवत् त्याग दिया है। सांसारिक कोई इच्छा या आशा कभी जिनको अपने उद्देश से विचलित नहीं कर सकती। परन्तु ऐसे मनुष्य विरले ही होते हैं। साधारण मनुष्यों को दूसरे मार्ग का अनुसरण करना पड़ता है। यह मार्ग पहले की अपेक्षा सरल है। इसमें वे संसार के समस्त वन्धनों में रहते हुए और अपने कर्तव्य कर्म का आचरण करते हुए अन्त में जाकर उन सब को छिन्न भिन्न कर डालते हैं। यह भी एक प्रकार का तप है। भेद केवल इतना है कि यह काम क्रमशः और शनैः शनैः होता है, इसमें मनुष्य क्रमशः अपना अनुभव और अभ्यास बढ़ाते हुए, त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम से लाभ उठाते हुए, सत्यासत्य, हिताहित और कर्माकर्म का विवेक प्राप्त करते हुए अन्त में जाकर निष्काम वन जाता है और मुक्त हो जाता है। निवृत्ति-मार्ग वाले केवल ज्ञान की सहायता से अपना काम करते हैं। वे अपने उद्देश की सिद्धि

में कर्म का सहारा लेना नहीं चाहते। इसी को सांख्य और वेदान्त की परिभाषा में "ज्ञानयोग" कहते हैं। प्रवृत्ति-मार्गवाले कर्म की नींव पर अपना मन्दिर निर्माण करते हैं। उनकी दृष्टि में बिना कर्म के कोई सिद्धि को प्राप्त नहीं हो सकता। यह "कर्मयोग" है, इसमें उत्साह और तीव्रता के साथ कर्म करना पड़ता है। प्रत्येक मनुष्य के लिए कर्म करना आवश्यक है। केवल वे लोग जो सदा आत्मा के ही ध्यान में निमग्न रहते हैं, आत्मा के सिवा न किसी को देखते, न सुनते और न अनुभव करते हैं। जिनका सब कुछ आत्मा ही है, वे अलबत्ता कर्म के बन्धन से मुक्त हैं। अन्य सब को कर्म करना ही पड़ता है। पानी की लहर ज़ोर के साथ चलती है और किसी गहरी जगह में पहुँच कर भँवर बन जाती है और बार बार चक्कर लगा कर फिर ज़ोर के साथ वह निकलती है और स्वतन्त्र लहर बन जाती है। मनुष्य का जीवन एक निरन्तर बहने-वाला प्रवाह है, जिसमें इच्छाओं की अनेक लहरें उठा करती हैं, जो उसको मोह के गम्भीर भँवर में फँसा देती हैं, जिसमें पड़ा हुआ मनुष्य चक्कर खाया करता है। देश, काल और निमित्त के संयोग से कुछ दिन इसको इस भँवर में फँसा रहना पड़ता है। माता, पिता, भ्राता और पुत्रादि के मोह तथा ख्याति और प्रशंसा के लोभ में तड़पना होता है। पर अन्त में जाकर वह उससे निकल भागता है और स्वतन्त्र लहर के समान उस अवस्था में पहुँच जाता है, जिसमें फिर कोई बन्धन नहीं रहता।

चाहे हम इसको जानें या न जानें, मूर्ख हों या पण्डित; पर इसमें संदेह नहीं हो सकता कि हम सब लोग संसार के बन्धन से मुक्त

होने के लिए कर्म करते रहते हैं। मनुष्य का अनुभव उसके जीवन की नौका को भवसागर से पार लगाने के लिए पतवार का काम देता है। सारा संसार कर्म कर रहा है, जड़ से लेकर चेतन तक और अणु से लेकर सूर्य्य तक सब कर्म कर रहे हैं। कोई एक क्षण भर के लिए भी विना कर्म के नहीं रह सकता। यह कर्म क्यों हो रहा है? मुक्ति के लिए। सब मुक्ति चाहते हैं और बन्धन से भागते हैं। संसार में दो प्रकार की शक्तियाँ काम कर रही हैं। एक आकर्षक दूसरी विकर्षक। आकर्षक शक्ति वह है कि जो हमें मुक्ति की ओर खींच रही है। और विकर्षक शक्ति वह है, जो हमें बन्धन से हटा रही है।

कर्मयोग हमें क्या सिखाता है? कर्म किस प्रकार करना चाहिए? यही कर्मयोग की शिक्षा है। जो इस विद्या को नहीं जानता, वह सदा संसार की चक्की में पिसता रहता है। कर्मयोग ही से हम कर्म के रहस्य को समझते हैं। इसी से कर्म के बन्धन को, जिस प्रकार काँटे से कांटे को और विष से विष को दूर करते हैं, शिथिल कर सकते हैं। यदि हम कर्मयोग को नहीं जानते तो कर्म करने में हमारी शक्ति का दुरुपयोग ही नहीं होता, किन्तु वह कर्म और भी हमारे बन्धन को दृढ़ कर देता है। कर्मयोग कर्म का सायन्स है, इससे तुम सीख सकते हो कि किस प्रकार कर्म करने से उसका फल शीघ्र और तुम्हारे अनुकूल हो सकता है। कर्म करना आवश्यक है, तथापि हमको किसी श्रेष्ठ उद्देश को सम्मुख रख कर कर्म करना चाहिए। कर्मयोग हमको बतलावेगा कि यह संसार परिवर्तन-शील है, इसमें स्थायी सुख नहीं है। यह उस स्थान तक हमको

पहुँचाने के लिए (जहाँ निराबाध सुख है) एक मार्ग (सड़क) है। हमको धीरे धीरे बल और अधिकार प्राप्त करते हुए इस सड़क से जाना है। संसार में शुकदेव जैसे मनुष्य विरले ही होते हैं जो एक दम संसार को छोड़ कर उससे विरक्त हो जाते हैं। जैसे साँप केचुली को छोड़ कर उससे अलग हो जाता है। ऐसे लोगों के लिए कर्मयोग का विधान नहीं है। यह सड़क प्रायः उन्हीं लोगों के लिए बनाई गई है कि जो संसार की एपणाओं को सहसा नहीं त्याग सकते। सांसारिक सुखों का अनुभव करते हुए जो मुक्ति की ओर जाना चाहते हैं। ऐसे लोगों को कर्मयोग बतलाता है कि वे किस प्रकार कर्म के द्वारा अपने अभीष्ट को सिद्ध कर सकते हैं।

कर्मयोग हमें शिक्षा देता है कि "उत्साह के साथ कर्म किये जाओ परन्तु बेलाग बने रहो। उसके फल में अपने को न लपेटो, अपने मन को वश में रक्खो"। तुम देखते हो संसार में सुख-दुःख का चक्र चल रहा है। कभी हर्ष है, कभी शोक है। ये आगन्तुक अवस्थायें हैं, इनसे हमारे आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं। हमारा आत्मा सुख-दुःख से परे है। ये सब इन्द्रिय और मन के विकार हैं; जिनको मूर्खता से हम आत्मा में आरोपित कर लेते हैं। दुःख केवल संसर्ग से उत्पन्न होता है; कर्म से नहीं। जब हम किसी कर्म के फल में लिपट जाते हैं; तभी दुःख का अनुभव करने लगते हैं। किन्तु यदि हम उससे अलग रह सकें, तो रात-दिन कर्म करते हुए भी कभी दुःखी न होंगे। दूसरे के घर में आग लगने से हमें दुःख नहीं होता, परन्तु जब हमारे घर में आग लगती है तो हम रोते हैं।

हज़ारों मनुष्य प्रति दिन मरते रहते हैं।' हमें मालूम भी नहीं होता, परन्तु जब कोई हमारा सम्बन्धी या आत्मीय मर जाता है तो हम शोक से विह्वल हो जाते हैं। इसका क्या कारण है? इसका कारण केवल ममता है। जिन पदार्थों में हमारी ममता है अर्थात् जिनको हम अपना समझते हैं, उनके वियोग से हमें दुःख होता है और जहाँ ममत्व बुद्धि नहीं है, वहाँ न संयोग से सुख और न वियोग से दुःख होता है। जिस घर या मनुष्य को हमने अपना मान रक्खा था, उसके नष्ट होने से हमको दुःख होता है। और जिस घर या मनुष्य से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है, उसके नष्ट होने से हमें कुछ भी दुःख नहीं होता। इससे सिद्ध है कि सम्बन्ध (लगाव) ही सारे दुःखों की जड़ है। सम्बन्ध ही से स्वार्थ उत्पन्न होता है और स्वार्थ दुःख का मूल है। चित्त में मेरे-पन और तेरे-पन की जितनी लहरें उठती हैं, उनके साथ पराधीनता की बेड़ियाँ लगी रहती हैं, जो मनुष्य को जकड़ कर बाँध लेती हैं। इसलिए कर्म-योग हमको बतलाता है कि तुम संसार के सब पदार्थों को देखो और उनसे प्रसन्नता-लाभ करो, परन्तु उनको अपना कभी मत समझो, यहाँ तक कि अपने शरीर पर भी ममत्व बुद्धि न करो। यह कभी न कहो कि यह वस्तु मेरी है। जिसको तुम अपना कहोगे वही तुम्हारे दुःख का कारण बन जायगी। मेरा पुत्र, मेरा घर, मेरा शरीर ये सब बन्धन और दुःख की परिभाषायें हैं, जो अज्ञानी लोगों ने बना ली हैं। वास्तव में न हमारा कोई है और न हम किसी के हैं। हम केवल साक्षी मात्र बन कर संसार में आते हैं, पर अविद्या से वादी और प्रतिवादी बन जाते हैं और इसी

से सारे झगड़े पैदा होते हैं। यह शरीर क्या है? आत्मा का एक कल्पित चित्र या मूर्त्ति है। जैसे किसी चित्र या मूर्त्ति के टूटने फूटने से शरीर को कुछ हानि नहीं पहुँचती। वैसे ही इस शरीर के नष्ट होने से आत्मा का कुछ नहीं बिगड़ता।

कर्मयोग कहता है कि स्वार्थ की जड़ काट कर फेंक दो। जब तुम इसको अपने हृदय में अवकाश ही न दोगे तो इसकी लहरें तुम पर अपना कुछ भी प्रभाव न कर सकेंगी। जब यह अवस्था प्राप्त हो जायगी तब संसार में जहाँ चाहो वहाँ जाओ, जो चाहे सो करो; तुम निर्लेप रहोगे। कमल पानी में रहता है, पर पानी उसके पत्तों को तर नहीं कर सकता। ऐसे ही तुम संसार में रहते हुए और कर्म करते हुए उसके प्रभाव से बचे रहो। बस यही सच्चा वैराग्य है। मैं तुमसे कह चुका हूँ कि किसी प्रकार का योग बिना वैराग्य के नहीं हो सकता। खाना-पीना छोड़ने या जङ्गल में जाने से वैराग्य नहीं होता। जब तक शरीर है, उसकी रक्षा के लिए मनुष्य को कर्म करना पड़ेगा और यह उसका धर्म है। वैराग्य का सम्बन्ध शरीर से नहीं है, किन्तु मन से है। बिना मन को वश में किये शरीर सुखा देने से कोई वैरागी नहीं बन सकता। जिसका मन मेरा और तेरा-पन की ज़ंजीर से निकल गया है, वह यद्यपि शरीर-यात्रा के लिए सब कुछ उपाय काम में लाता हो, तथापि उनमें आसक्त न होने से वह वैरागी है। विपरीत इसके वह मनुष्य जो इन्द्रियों से काम करना छोड़ देता है, परन्तु मन से विषयों का चिन्तन करता रहता है, वह रागी है और जब तक उसका मन विषयों से उपरत न होगा, केवल इन्द्रियों को रोकने से वह वैराग्य

का अधिकारी नहीं हो सकता*। सम्भव है एक मनुष्य राज-सिंहासन पर बैठा हुआ संसार से विरक्त हो। दूसरा चिथड़ा लपेटे हुए साधुवेश में पूरा संसारी हो। कर्म-योग का यथार्थ उपयोग हम को वैराग्य का अधिकारी बनाता है।

कर्मयोग में वैराग्य दो प्रकार का है। एक उन लोगों के लिए है, जो ईश्वर पर विश्वास नहीं रखते और न किसी प्रकार की बाह्य सहायता की अपेक्षा रखते हैं। वे अपने बाहुबल पर भरोसा रखते हैं और अपनी प्रबल मानसिक शक्ति से बहु-विध ऐश्वर्य और अधिकारों के स्वामी होने पर भी कहते हैं कि "मैं बेलाग रहूँगा"। ऐसे लोग अपने अनुभव और विवेक के अनुसार काम करते हैं। जो लोग ईश्वर-भक्त हैं, उनके लिए वैराग्य का दूसरा मार्ग है और जो पहले की अपेक्षा कठिन नहीं है। वे अपने कर्म-फल को ईश्वरार्पण करते हैं, वे कर्म अवश्य करते हैं, पर उसके फल की इच्छा नहीं रखते। वे जो कुछ करते, देखते और सुनते हैं, वह सब ईश्वर के लिए है। यदि कोई अच्छा काम हम करें तो हमको उसका अभिमान न करना चाहिए और न प्रशंसा की आशा रखनी चाहिए। क्योंकि हम उसका फल ईश्वर के अर्पण कर चुके हैं। या हमको यह समझना चाहिए कि हमने कुछ भी काम नहीं

---

* "कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्। इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते"॥ जो कर्मेन्द्रियों को रोक कर मन से विषयों का चिन्तन करता है, वह मिथ्याचारी (धोखा देनेवाला) है।

[भगवद्गीता]

किया है। जैसे कोई नौकर अपने स्वामी के लिए काम करता है और वह स्वामी का ही काम कहलाता है और वही उसके यश का भागी भी होता है; सेवक को कोई जानता भी नहीं। वैसे ही हम उस ईश्वर के सेवक और उपासक हैं। हम काम करने के निमित्त मात्र हैं। प्रेरक व नियोजक हमारा वही है। हम सेवक-वत् उसकी आज्ञा का पालन करते हैं, इसलिए हमारा उस पर कोई स्वत्व नहीं है। जो कुछ तू देखता है, जो कुछ तू करता है और जो कुछ तेरे अधिकार में है, सब उसको अर्पण कर दे। यहाँ तक कि अपना तन-मन भी उसी की सेवा में अर्पण कर दे। यही सब यज्ञों में बड़ा आत्म-यज्ञ है। जो अपनी आहुति इस यज्ञ में देते हैं और परमात्मा से यह प्रार्थना करते हैं कि "हे परमात्मन्! सारे संसार को धन की इच्छा है, मेरा धन तू है। तेरे सिवा और कोई मेरी सम्पत्ति नहीं। मैं तेरे नाम पर अपनी भेंट चढ़ाता हूँ। किसी को अपने इष्ट की चाह है, मेरा इष्टतम तू है, तेरे बिना मेरा जीवन निष्फल है, मैं तुझ पर अपने आप को बलि देता हूँ। मुझ को मेरा कुछ नहीं चाहिए। बुरा हो या भला या इन दोनों से विलक्षण; मुझे किसी की परवा नहीं। मैं सब कुछ तुझ पर और तेरे नाम पर समर्पित करता हूँ"। रात-दिन इसी मन्त्र-का जाप करते रहो और उसके प्रेम और भक्ति में अपने आपे को भुला दो। यही सच्चा त्याग है और इसी को पूर्ण वैराग्य कहते हैं।

कर्मयोग हमें यद्यपि कर्म करने की शिक्षा देता है तथापि उसका उद्देश हमें कर्म के बन्धन से मुक्त करना है। वह तटस्थ होकर साधारण धर्मों के पालन करने का विरोधी नहीं, तथापि

उन्हीं में आसक्त होकर उनके तुच्छ-फल के मूल्य में अपने अमूल्य जीवन को बेच देना यह उसको अभिमत नहीं है। धार्मिक या लौकिक आचारों का पालन करना वहीं तक अच्छा है, जहाँ तक मनुष्यों को उनसे अपने कर्त्तव्य-पालन में सहायता मिलती है या जहां तक उनसे स्वार्थ, आग्रह, राग और द्वेष के संस्कार उभरने नहीं पाते। कर्मयोगी इन व्यक्ति-गत या जाति-गत धर्मों में प्रवृत्त नहीं होता, उसका धर्म-कर्म जो कुछ है, वह सब ईश्वर की भक्ति और उसका सच्चा प्रेम है। ईश्वर सब का है, इसलिए उसका धर्म भी सबकी सेवा और सब से प्रेम करना है। जिन धर्मों के सेवन करने से सांसारिक बन्धन दृढ़ होते हैं। यदि तुम कर्मयोगी बनाना चाहते हो तो उनके लिए मत ललचाओ। तुम चाहे किसी धर्म का पालन करो, पर अपने मन में इस बात का अभिमान कभी न करो कि मैं इसका करने वाला हूँ या यह मेरा धर्म या कर्म है। जहाँ तुमने मेरा कहा, बस वहीं लगाव पैदा हुआ और यह लगाव ही तुम्हारे गले की फाँसी है। जब तुम अपना सर्वस्व ही ईश्वर के अर्पण कर चुके तब तुम्हें यह अधिकार ही कब है कि तुम किसी वस्तु को (चाहे वह तुम्हारे शरीर के भीतर हो या बाहर) अपना कह सको। हम सब उसी की आज्ञानुसार काम कर रहे हैं, हमको प्रहार और उपहार (सज़ा व जज़ा) से क्या काम ! यदि हम पारितोषिक लेना चाहते हैं तो हमको दण्ड भी अवश्य मिलेगा। दण्ड से बचने का केवल यह उपाय है कि पारितोषिक की मन में कल्पना भी न की जाय। दुःख से बचने का सिवा इसके और क्या उपाय हो

सकता है कि हम सुख की कल्पना को सर्वथा त्याग दें। क्योंकि सुख-दुःख दोनों साथ साथ मिले रहते हैं। जहाँ सुख है वहीं दुःख भी है। जीवन के साथ मरण लगा हुआ है, जो जीना चाहता है उसके लिए अवश्य मौत है। हाँ यदि हम जीवन की इच्छा और मोह छोड़ दें तो निस्सन्देह मौत को जीत सकते हैं। यदि विचार-दृष्टि से देखा जावे तो जीवन और मरण इन दोनों में नाम मात्र का भेद है, वस्तुतः ये एक ही पदार्थ के दो सापेक्ष्य धर्म या अङ्ग हैं। सुख विना दुःख के या जीवन विना मरण के एक बाल-प्रलाप है।

अतएव जो कर्म करो, उसके लिए न तो प्रशंसा की और न ख्याति की लालसा रक्खो। हम में यह निर्बलता है, अच्छा काम पीछे करते हैं, प्रशंसा पहले चाहते हैं। यदि किसी धर्म-कार्य्य में कुछ दान देते हैं, तो जब तक समाचार-पत्रों में छप नहीं जाता, हम को चैन नहीं पड़ता। संसार में प्रायः बहुत बड़े और प्रथम श्रेणी के मनुष्य हुए हैं, जिनका कोई नाम भी नहीं जानता, इतिहास की तो कथा ही क्या है। प्रत्येक देश में ऐसे महात्मा पुरुष हुए हैं, जिन्होंने चुपचाप कर्म करते हुए अपना जीवन विताया और चुपचाप ही अपना काम पूरा करके चल दिये। समय आया कि उनके विचार और उपदेशों ने बुद्ध और ईसा जैसी प्राकृत मूर्तियाँ धारण कीं, जिनको हम जानते हैं। बड़े आदमी नाम और प्रतिष्ठा के भूखे नहीं होते वे अपने शुद्ध संस्कार और पवित्र विचार लोगों को दे जाते हैं। न वे कोई पन्थ चलाते हैं, न सम्प्रदाय बनाते हैं, न अपने नाम से कोई धार्मिक या दार्शनिक परिपाटी चलाते हैं। उनमें मान

और मत्सर का लेश भी नहीं होता, वे सात्विक भावों से परिपूर्ण होते हैं। मैं एक ऐसे ही योगी को जानता हूँ, जो आर्यावर्त्त में रहता है। वह अपने शरीर और जीवन तक से निरपेक्ष है। उसने अपने आपे को बिलकुल भुला दिया है। यदि कोई जन्तु उसके एक हाथ को काटना चाहे, तो वह दूसरे हाथ को भी उसके सामने कर देता है और यह कहता है कि "परमात्मन्! आप की इच्छा पूर्ण हो"। उसकी दृष्टि में सब कुछ ईश्वर का है और उसी के लिए है। वह सब सङ्ग और सम्बन्धों से पृथक् होने पर भी प्रेम और पवित्रता का आदर्श है।

इनके पश्चात् उन लोगों का नम्बर आता है जो रजोगुणी अर्थात् राजसवृत्ति वाले हैं, इनमें उत्साह, आन्दोलन और प्रयत्न की शक्ति होती है। ये सात्विक भाव वालों का अनुकरण करते हैं, संसार को उनका उपदेश सुनाते हैं। प्रथम कक्षा के लोग चुपचाप शान्ति के साथ सच्चे और शुद्ध भावों को इकट्ठा कर जाते हैं। दूसरी कक्षा के लोग अपने उद्योग और पुरुषार्थ द्वारा उनका संदेश लोगों तक पहुँचाते हैं। गौतम-बुद्ध के जीवन-चरित्र में हमने कई बार पढ़ा है कि २४ बुद्ध उससे पहले हो चुके हैं। और वह २५ वाँ है। उन २४ बुद्धों के नाम तक को कोई नहीं जानता। किन्तु गौतम-बुद्ध जो ऐतिहासिक बुद्ध है, स्पष्ट कहता है कि उसने अपने प्रचार का काम उनके उपदेशों के आधार पर आरम्भ किया है। उच्च-कक्षा के मनुष्य सदा शान्त और प्रसन्न-चित्त रहते हैं। वे उच्च भावों की शक्ति को जानते हैं। उनको विश्वास है कि यदि वे अपनी गुफा के द्वार बन्द करके पाँच उच्च-कोटि के सिद्धान्त भी मनुष्यों

के वास्ते छोड़ जायँगे, तो भी जब तक सृष्टि है, उनका यह पवित्र स्मारक संसार में बना रहेगा। वस्तुतः ये सिद्धान्त पहाड़ों को छेदते हुए, समुद्रों को चीरते हुए संसार में परिक्रमण करते रहेंगे और अवसर पाकर मनुष्यों के हृदय और मस्तिष्क में प्रवेश करके उन्हें पवित्र और उच्च बना देंगे। जिनके प्रताप से मानुप-जीवन का उद्देश सफल और पूर्ण हो जायगा। ये सात्विक मनुष्य ईश्वर के इतने समीप होते हैं कि इनको आन्दोलन, उपदेश और कर्त्तव्य-कर्मों के पालन करने का अवकाश ही नहीं रहता।

उत्साह से कर्म करने वाले चाहे कितने ही धर्मात्मा हों, फिर भी उनमें कुछ न कुछ अज्ञान का लेश रहता ही है। जब तक हम में अपूर्णता है, तभी तक हम कर्म करते हैं। कर्म में फिर भी कुछ न कुछ स्वार्थ या सम्बन्ध का योग रहता ही है। जिनकी सब इच्छायें ईश्वर में अर्पित हो गई हैं और जिनका आत्मा ईश्वरमय हो गया है, उनके लिए कर्म नहीं है। वे चाहे स्वाभाविक कर्म करते रहें, परन्तु कर्तृत्व का व्यपदेश उनमें नहीं होता। ऐसे ही लोग उस सब से बड़े पद मोक्ष के अधिकारी हैं। हम में से बहुत से मनुष्य ऐसे होंगे जो अपने को बड़ा आदमी समझते हैं, किन्तु आप अपने को बड़ा समझने से कोई बड़ा नहीं होता। बड़ा वह है जिसको संसार बड़ा कहे। हम जब संसार को छोड़ देते हैं, पाँच मिनट में संसार हमको भूल जाता है। परन्तु ईश्वर की सत्ता अपरिमित है। यदि उसकी इच्छा न हो तो कौन जी सकता है। वह आत्माओं का आत्मा है। प्राकृत और अप्राकृत सारी शक्तियाँ उसमें हैं और उसकी हैं। उसीकी आज्ञा से वायु चलता है, सूर्य्य चमकता है,

पृथ्वी भ्रमण करती है और मृत्यु प्राणियों को अपना भक्ष्य बनाता है। वह सब में है और सब कुछ है। तुम जो कुछ कर सकते हो, उसके लिए करो, अपने लिए फल की वासना मत रक्खो। यही सच्चा त्याग है, इसीसे कर्म-बन्धन की फाँसी कटती है और यही मुक्ति का सीधा मार्ग है, जिसकी पहली सीढ़ी कर्मयोग है।

—:o:—

सातवाँ अध्याय

कर्मयोग का आदर्श

वेदान्त का यह एक बड़ा गम्भीर सिद्धान्त है कि हम भिन्न भिन्न मार्गों से एक ही सर्वाभिमत स्थान पर पहुँच जाते हैं। वे भिन्न भिन्न मार्ग आंशिक रीति पर तो बहुत से हैं, परन्तु उनमें चार मुख्य हैं, जिनमें सब आ जाते हैं। पहला कर्म, दूसरा भक्ति या प्रेम, तीसरा विज्ञान और चौथा ज्ञान। पर तुमको स्मरण रखना चाहिए कि ये मार्ग ऐसे नहीं हैं कि इनका परस्पर एक दूसरे से कुछ सम्बन्ध न हो। ये सब आपस में मिले-जुले हैं। तुमको संसार में ऐसा कोई भी मनुष्य न मिलेगा जो केवल कर्म ही करता हो। न ऐसा ही जन दृष्टि पड़ेगा जो केवल ईश्वर-पूजा और भक्ति में ही अपना सारा समय लगाता हो और न कोई ऐसी ही व्यक्ति मिलेगी जो केवल आत्मिक-ज्ञान में ही रमण करती हो और उसको कर्म और भक्ति से कुछ लगाव न हो। यह विभाग केवल अवस्था और अधिकार-भेद से है। हम यह कह चुके हैं कि ये चारों मार्ग मिल कर एक हो जाते हैं। सब धर्म और कर्म के सारे अनुष्ठान और पूजा के सारे अङ्ग एक ही अभिमत स्थान पर पहुँचाने का प्रबन्ध करते हैं।

मैंने तुमको उस अभीष्ट स्थान के समझाने की भी चेष्टा की है। वह केवल मोक्ष है, जिसको स्वातन्त्र्य की पराकाष्ठा कहना चाहिए। प्रत्येक वस्तु जिसको हम देखते हैं, स्वतन्त्रता के लिए छटपटा रही है। निर्जीव अणु से लेकर सजीव मनुष्य तक सब इसी स्वतन्त्रता के लिए उद्योग कर रहे हैं। प्रत्येक सघन वस्तु या पिण्ड क्या समष्टिरूप से और क्या व्यष्टिरूप से एक दूसरे से पृथक् होने का यत्न कर रहे हैं, पर उनका कर्म-चक्र ऐसा घूम रहा है कि वह उनको क्षण भर के लिए भी पृथक् होने नहीं देता। पृथिवी सूर्य से भागना चाहती है, चन्द्रमा पृथिवी से अलग रहना चाहता है। प्रत्येक वस्तु (चाहे वह जड़ हो या चेतन) जिन बन्धनों में बँधी हुई है, उनसे वह छूटना चाहती है और यही स्वतन्त्रता की स्वाभाविक इच्छा है। इसी के लिए योगी योग और भक्त-जन भक्ति करते हैं और इसी की इच्छा से डाकू और लुटेरे लूट मार में लगे हुए हैं। जब काम करने का ढँग अच्छा नहीं होता, हम उसको बुरा कहते हैं। मुमुक्षु को बन्धन का दुःख है, वह उससे छूटना चाहता है, इसलिए वह भक्ति और ज्ञान का आश्रय लेता है। चोर को किसी वस्तु की आवश्यकता है, वह दीनता के दुःख से बचना चाहता है, इसलिए चोरी करता है। दोनों का उद्देश एक ही मुक्ति है, सिर्फ़ इनके काम करने के ढँग भिन्न भिन्न हैं। एक उचित रीति पर अपना इष्ट-साधन करना चाहता है, दूसरा अनुचित रीति पर ! जड़ हों या चेतन, मूर्ख हों या विद्वान् सब एक ही स्थान पर पहुँचना चाहते हैं।

सारे धर्म और सम्प्रदाय भी इसी मुक्ति के ग्राहक हैं, परन्तु यह मुक्ति बिना अपने आपे को मिटाये किसी को मिल नहीं सकती। आपे को मिटाने का यह आशय नहीं है कि हम आत्मघात कर लें। नहीं, नहीं, इसका मतलब यह है कि हम अपने आप को अस्थि-चर्मावनद्ध शरीर न समझें। ममता ही स्वार्थ की जननी है और यही सारे दुःखों का कारण है। यदि तुम मुक्ति चाहते हो तो "मैं" और "मेरा" इन दो फाँसियों को काट दो। यही दो बेड़ियाँ हैं जो मनुष्य को इतनी प्रबल मुक्ति की इच्छा रखते हुए भी बन्धन में जकड़े हुए हैं। बिना इनको काटे तुम स्वार्थ के चक्र से नहीं निकल सकते। कर्मयोग हमको इस बन्धन से छूटने का उपाय बतलाता है और वह केवल स्वार्थ त्याग है। जब तक स्वार्थ है, तभी तक 'मैं' और 'मेरा' बने हुए हैं। जहाँ स्वार्थ का नाश हुआ फिर केवल तू और तेरा ही शेष रह जाता है। कर्म वही बन्धन का हेतु है, जिसमें स्वार्थ लगा हुआ है। मैं करता हूँ, अपने या अपनों के लिए करता हूँ, ये संस्कार हैं जो हमको बार बार कर्म-चक्र में घुमा रहे हैं और इससे निकलने नहीं देते। कर्मयोगी यद्यपि कर्म करता है, तथापि वह उसका न अपने को कर्त्ता समझता है और न सम्प्रदान—अधिकारी। उसकी दृष्टि में ईश्वर ही कर्त्ता है और वही सम्प्रदान है। वह अपने को केवल निमित्त मात्र समझता है।

किन्तु यदि तुम आंशिक भेदों और शाखाओं में पड़ कर वाद-विवाद करने लगोगे तो फिर इसका समझ में आना कठिन हो जायगा। क्योंकि आस पास की दशाओं और घटनाओं से भेद

उत्पन्न हो जाता है। एक कर्म किसी विशेष दशा में निष्काम कहा जाता है, परन्तु दूसरी दशा में वही सकाम बन जाता है। इसलिए हम केवल एक सर्वतन्त्र-सिद्धान्त का पता दे सकते हैं, आंशिक और तदन्तर्गत बातों को देश, काल और अवसर के अधीन कर देते हैं। एक देश में एक काम अच्छा समझा जाता है, दूसरे देश में वही बुरा हो जाता है, क्योंकि उन दोनों की दशा एक सी नहीं होती।

निदान सृष्टि का सबसे बड़ा उद्देश मुक्ति है और मुक्ति केवल निष्काम कर्म करने से प्राप्त होती है। प्रत्येक शब्द, सङ्कल्प और कर्म जिनमें स्वार्थ का लेश नहीं है, हमको मुक्ति की ओर ले जाते हैं, इसलिए सदाचार का भी सबसे बड़ा आदर्श स्वार्थ-त्याग ही है। प्रत्येक धर्म और प्रत्येक जाति का धार्मिक, दर्शन और ऐतिहासिक साहित्य इस आदर्श की सत्यता को स्वीकार करता है। कोई कोई धर्म यह शिक्षा देते हैं कि मनुष्य-जीवन का यह आदर्श ईश्वर की ओर से है। यदि तुम उनसे प्रश्न करो कि हम यह कर्म क्यों करें? तो उत्तर मिलेगा कि "यह ईश्वर की आज्ञा है।" चाहे इसका कारण कुछ ही हो, सबमें एक भाव काम करता मिलेगा और वह यह है कि अपने अभिमान और अहंभाव को दूर कर दो। परन्तु फिर भी बहुत से मनुष्य ऐसे होंगे जो यह बात सुन कर चौंक पड़ेंगे। क्योंकि ममता ने उनको जकड़ रक्खा है, वे यह समझते हैं कि आपे को मिटाने से हम आप ही न रहेंगे। वे भूले हुए हैं, वे चाहे ममता करें या न करें; मौत प्रत्येक दशा में अपना काम करेगी। अन्तर केवल इतना ही है कि ममता और अहंभाव में पड़े

रहने से मौत उनके लिए बड़ी भयानक और दुःख-दायक होगी और इनको मिटा देने से वही मौत सुहावनी और सुखदायिनी हो जायगी। जब तक मनुष्य अहंभाव के मद से उन्मत्त है और अहंकार के चक्र में घूम रहा है, तब तक वह न तो निष्काम कर्म ही कर सकता है और न कर्म-योग का अधिकारी ही बन सकता है। इसलिए कर्म-योग में सब से पहले अपने आपे को मिटाना होता है।

कर्म-योगी चाहे और किसी सिद्धान्त को न माने, उसका चाहे ईश्वर पर भी विश्वास न हो, वह सांख्य और वेदान्त के गूढ़ रहस्यों को भी चाहे न जानता हो, पर उसके लिए यह अत्यन्त आवश्यक और उचित है कि वह स्वार्थ-त्याग का अभ्यास करता हुआ अपनी अहंता (ख़ुदी) को बिलकुल मिटा दे। उसका जीवन दूसरों के लिए होना चाहिए, न कि अपने लिए। जो दूसरों के लिए आप मिट सकता है, चाहे वह किसी सिद्धान्त या मत का अनुयायी हो सच्चा कर्म-योगी है। भक्त-जन भक्ति से और ज्ञानी ज्ञान से भी इसी पदवी को प्राप्त करते हैं।

अब प्रश्न यह है कि कर्म क्या है? क्या हम संसार का उपकार कर सकते हैं? यथार्थ में तो इसका उत्तर 'नहीं' है परन्तु सापेक्ष्य दशा में इसका उत्तर 'हाँ' होगा। कोई मनुष्य पूर्ण रीति पर संसार को लाभ नहीं पहुँचा सकता, यह असम्भव है। यदि ऐसा हो तो फिर संसार संसार ही न रहेगा। आप थोड़ी देर के लिए किसी भूखे की भूख मिटा सकते हैं, पर उसे भूख फिर सतावेगी। प्रत्येक प्रकार का सुख अनित्य है। कोई किसी को सदा के लिए न

सुख पहुँचा सकता है, न दुःख। समुद्र में एक स्थान पर लहरें उठती हैं, दूसरी जगह खाली हो जाती हैं। संसार के समस्त उपकारों का परिमाण प्रत्येक समय में मनुष्य की इच्छा और चेष्टा के अनुसार एक सा रहा है। न कोई उसको बढ़ा सकता है, न घटा सकता है। आज तुम मानव-इतिहास के पत्र उलट कर देखो, क्या वे दुःख-सुख जो पहले थे, अब नहीं हैं। अब भी वे ही दिन रात और मौसम हैं, जो पहले थे। यूनानी, मिसरी और रूमियों के समय में भी यही दशा थी और अब भी वही है। जहाँ तक इतिहास पता देता है, उसमें बदलाव नहीं हुआ। पर तो भी हम देखते हैं मनुष्य ने अपनी उन्नति के लिए सर्वदा कुछ न कुछ यत्न किया है। इतिहास के प्रत्येक समय में ऐसे हज़ारों स्त्री-पुरुष हुए हैं, जिन्होंने दूसरों की भलाई में अपने जीवन को लगाया है। उनको कहाँ तक सफलता हुई, इसमें संशय है। गेंद इधर से उधर तक लुढ़कती रहेगी। शारीरिक दुःख मिटा, मानसिक दुःख उत्पन्न हो गया, ऐसा होता ही रहता है। इधर कमी हुई, उधर बढ़ती हो गई। यह कहना कि किसी समय में संसार में दुःख न रहेगा; उन्मत्त-प्रलाप है। सब जातियों में यह विश्वास है कि एक दिन ऐसा आवेगा जबकि संसार में पाप और दुःख का नाम न रहेगा; परन्तु यह भ्रमात्मक और अमूलक विश्वास है। यदि ऐसा होगा तो फिर संसार संसार ही न रहेगा।

हम संसार में न तो दुःख की मात्रा बढ़ा सकते हैं, न सुख की। सदा इनकी मात्रा एक सी रहेगी। अन्तर केवल इतना होता है कि गेंद इधर से लुढ़क कर उधर जा रहेगी। यह न्यूनाधिक्य,

यह ज्वार-भाटा प्रकृति का धर्म है। कैसे कोई मान ले कि मृत्यु के विना जीवन हो सकता है? यह असमञ्जस है। जहाँ जीवन है, वहाँ मौत का होना भी आवश्यक है। कोई सुख-दुःख के विना नहीं है। दीपक जल रहा है, थोड़ी देर में अवश्य बुझेगा। यदि तुमको जीने की इच्छा है तो साथ ही साथ मरना भी होगा। एक मनुष्य जो अवनति की ओर देखता है, दुःखी हो जाता है। दूसरा जो उन्नति की ओर देख रहा है, अपने को सुखी समझता है। एक बालक जिसको कोई चिन्ता नहीं है और जिसके माता-पिता संरक्षक वर्त्तमान हैं अपने लिए प्रत्येक वस्तु को सुखदायक मानता है और प्रसन्न रहता है। वूढ़ों का अनुभव इसके विलकुल विरुद्ध है, उनकी सब आशायें मन्द और शान्त हो गई हैं; उनको पद पद पर मृत्यु का भय लगा हुआ है, जो कभी उनको सुख की नींद नहीं सोने देता। पुरानी जातियों में उदासीनता छाई हुई है, उनकी सब आशायें मर चुकीं। नई जातियाँ उत्साह में भरी हुई हैं, क्योंकि उनके चढ़ाव और उभार के दिन हैं। आर्य्यावर्त्त में एक कहावत चली आती है "हज़ार वर्ष का नगर हज़ार वर्ष का जङ्गल" नगर उजड़ कर जङ्गल और जङ्गल आबाद होकर नगर बनते रहते हैं। इसी प्रकार सुख-दुःख का चक्र भी संसार में चल रहा है।

इसके पश्चात् समता (बराबरी) का सिद्धान्त भी विचारणीय है। किन्हीं किन्हीं मतवालों का विश्वास है कि ईश्वर उनका न्याय करने के लिए आवेगा, तब बड़ाई-छुटाई का सारा भेद मिट जायगा। यह सिद्धान्त कट्टर मनुष्यों का है। जो अपने विश्वास में सच्चे हैं, पर सचाई से कोसों दूर हैं। इसी विश्वास ने रूम व

यूनान के ग़ुलामों को ईसाई-धर्म की ओर आकर्षित किया। यह ग़ुलाम समझने लगे—जब ऐसा समय आवेगा, उनको ख़ूब खाने पीने को मिलेगा। और वे झुण्ड के झुण्ड मसीही-झंडे के तले आने लगे। जिन्होंने आरम्भ में इस विश्वास को फैलाया, वे कट्टर और मूर्ख थे। इस समय भी बराबरी और मानुष-अधिकारों के साम्य का उपदेश सुनाया जाता है। यह भी कट्टरपन है। न तो कभी संसार में समता की दशा आई और न कभी आवेगी। भला यह क्योंकर हो सकता है कि इस सृष्टि में जो प्रकृति के वैषम्य का परिणाम है, सबकी साम्यावस्था हो जावे। यह सर्वथा असम्भव है। सृष्टि क्यों उत्पन्न होती है? प्रकृति की साम्यावस्था में भेद पड़ जाता है। आदि में जब यह सृष्टि नहीं बनी थी, प्रकृति साम्यावस्था में थी। उसमें विषमता का आना ही सृष्टि की उत्पत्ति का कारण है। जब तक यह सृष्टि वर्त्तमान है, उसमें विषमता रहेगी। कल्पना करो सृष्टि के सारे परमाणु एकही दशा में आजायँ तब क्या इस दशा में सृष्टि का विलोप न हो जायगा? अवश्य हो जायगा। इसलिए वैषम्य और अनेकता ही सृष्टि के चिह्न हैं। साम्य और एकता प्रलय में जाकर होती है। अब हमको देखना यह है कि मनुष्यों में यह भिन्नता क्यों है? उनके कर्म और संस्कार भिन्न भिन्न होने से हम संसार में भिन्न भिन्न संस्कारों को लेकर उत्पन्न होते हैं। हमारी इच्छायें, आचार, विचार और कर्म भी भिन्न भिन्न होते हैं। फिर, हमारी दशा एकसी क्यों कर हो सकती है। समता मृत्यु है और विषमता ही जीवन है। जब तक यह संसार है, समता हो नहीं सकती। पूरी समता उस समय आवेगी,

जब यह संसार न रहेगा। संसार में शक्ति-वैषम्य ही एक ऐसी वस्तु है जो मनुष्य को कर्म के लिए प्रेरित करती है। क्योंकि कर्म करने के लिए किसी न किसी उद्देश का सामने होना आवश्यक है और यह तब हो सकता है जबकि भिन्न भिन्न शक्तियाँ उस उद्देश के लिए अपना काम करती हों।

संसार एक प्रकार का चक्र है, जिसमें भिन्न भिन्न कर्मों के अरे (डंडे) लगे हुए हैं। यदि हम अपना हाथ उसमें दे देंगे तो फँस जायँगे। हम सोचते हैं कि हमने एक काम कर लिया और अब हमको आराम मिलेगा। पर देखने में आता है कि अभी एक काम पूरा नहीं हुआ, दूसरा आकर हमारे सामने खड़ा हो जाता है और यह संसार-चक्र हमको बलात् खींच ले जाता है। इससे बचने के दो उपाय हैं। एक यह कि इस चक्र से अलग खड़े रह कर तमाशा देखो, इसमें अपना हाथ मत दो। पर यह काम बड़ा कठिन है। मैं नहीं कह सकता कि २० करोड़ में एक मनुष्य भी ऐसा निकल सके। कहना सहज है, पर करना बड़ा कठिन है। दूसरा उपाय यह है कि संसार-समुद्र में प्रवेश करो, कर्म के रहस्य को समझो। संसार-चक्र से अलग मत रहो, किन्तु इसके सुरक्षित स्थान में बैठ कर संसार की परिक्रमा करो। स्मरण रक्खो इस चक्र के भीतर से ही बाहर निकलने का द्वार है। परन्तु उस द्वार से वे ही निकल सकते हैं, जो कर्मों के डंडों में अपना हाथ नहीं देते। यदि तुम भी निर्लेप रह कर धर्म करोगे तो एक दिन इस चक्र से अवश्य बाहर निकल आओगे।

अब हमने जान लिया कि कर्म क्या है। इसी कर्म के आधार

पर संसार की नींव रक्खी गई है और यह अनादि काल से प्रवाह रूप में इस संसार को चला रहा है। जो लोग ईश्वर पर विश्वास रखते हैं, वे इस कर्म के रहस्य को औरों की अपेक्षा अधिक समझ सकते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि ईश्वर को हमारी सहायता की अपेक्षा नहीं। हमारा उद्देश मुक्ति है और वह निष्काम कर्म से मिल सकती है। "हम संसार का उपकार कर सकते हैं" यह भाव चाहे कट्टर मनुष्यों के लिए अच्छा हो, पर कर्मयोगी को इस से बचना चाहिए। कर्मयोगी के लिए सिवा परमार्थ या मुक्ति के और कोई उद्देश न होना चाहिए। सांसारिक उद्देश चाहे वह कितना ही बड़ा और अच्छा क्यों न हो, उसको नीचे गिराने वाला है। गीता कहती है "कर्म करने का हमको अधिकार है, पर फल की आशा हमको कर्मयोग के उच्च उद्देश से गिरा देती है"। इस-लिए फल की अपेक्षा न करके कर्म करना ही कर्मयोग का आदर्श है। कर्म करो, उसका फल ईश्वर के अर्पण कर दो। यदि फल की इच्छा से कर्म करोगे (चाहे वह शुभ कर्म ही हो) तुम्हारे बन्धन का हेतु होगा।

हम संसार नहीं हैं, हम शरीर नहीं हैं, वस्तुतः हम कर्म नहीं करते। हम केवल आत्मा हैं। हम अपने स्वरूप से शुद्ध, शान्त और आनन्दमय हैं। फिर क्यों हम इस कर्म के बन्धन में अपने को जकड़ें। क्यों और किसके लिए शोक और विलाप करते हो। आनन्दमय हो कर और आनन्द-धाम में रह कर यह रोना कैसा ? पर हा ! हम लोग तो यहाँ तक अज्ञान और बालकों के समान मूर्ख हो गये हैं कि केवल आप ही नहीं रोते, किन्तु अपने

ईश्वर को भी रुलाते हैं। हमारे समान हमारा ईश्वर भी स्वर्ग के सिंहासन पर बैठा हुआ रोया करता है। यह निर्बलता की चरम-सीमा है। संसार में आसक्त पुरुष ही अपने प्रिय पदार्थों के वियोग से रोता है। इसलिए तुम बेलाग बनो। स्वार्थ की भावना को हृदय से निकाल कर शुभ कर्म करते रहो, तुम्हारे सारे बन्धन अपने आप टूट जावेंगे। प्रत्येक शुभ सङ्कल्प, शुभ उपदेश और शुभ कर्म जो फल की प्रत्याशा से रहित होकर किया जाता है, वही इस बन्धन के दृढ़ पास को (जिसमें बँधे हुए हम अपने को दीन, असमर्थ और दुःखार्त्त समझ रहे हैं) छिन्न भिन्न कर सकता है।

अब मैं एक बात कह कर अपने इस कथन को समाप्त करता हूँ। संसार में एक बहुत बड़ा कर्मयोगी हुआ है, उसका नाम बुद्ध था। संसार के सारे अवतार और पैग़म्बर किसी न किसी प्रयोजन या उद्देश से काम करते थे, पर बुद्ध इन सब से विलक्षण था। संसार में दो प्रकार के पैग़म्बर हुए हैं। एक तो वे जो अपने आप को ईश्वर का अवतार मानते थे। दूसरे वे जिन्होंने अपने को ईश्वर का दूत (रसूल) प्रकट किया। यद्यपि उन सब के उपदेशों और चरित्रों में बहुत से आध्यात्मिक उच्च-भाव और आदर्श मिलेंगे, तथापि यह सिद्ध है कि उन्होंने बाह्य उद्देशों को अपने सामने रख कर काम किया। केवल बुद्ध ही ऐसा मनुष्य था जिसका यह कथन है कि "मुझको ईश्वर के विषय में ज्ञान प्राप्त करने की कुछ भी आवश्यकता नहीं। आत्मिक गूढ़ सिद्धान्तों पर वाद-विवाद करने की आवश्यकता क्या है ? शुभ कर्म करो, धर्मात्मा बनो, तुमको

इसी से मुक्ति और सचाई मिलेगी"। वह अपने पवित्र और उच्च-भावों का मूर्त्तिमान् चित्र था। उसमें स्वार्थ का लेश नहीं था, न उसका कोई जातीय वा सामूहिक उद्देश था। संसार में किसने उससे अच्छा या अधिक काम किया है। इतिहास में कोई व्यक्ति ऐसी दिखाई नहीं पड़ती, जिसने संसार पर अपना इतना आश्चर्यमय प्रभाव डाला हो। मनुष्य-जाति में यह एक अपूर्व उदाहरण है। ऐसी उच्च फिलासिफ़ी और ऐसी प्रवल संवेदना और सहानुभूति आपको और कहाँ दीख पड़ती है? यह ऐसा उच्चमनस्क दार्शनिक हुआ है, जिसके गूढ़ विचार और उच्च सिद्धांतों में काल्पनिक और विवादास्पद विषयों की मीमांसा या विवेचना नहीं मिलेगी। किन्तु मनुष्य की स्वभाव-सुलभ और अनुभव-सिद्ध जो बातें हैं, उन्हीं का विवेचन प्रवल युक्तियों के द्वारा इस महात्मा ने किया है। क्षुद्र से क्षुद्र प्राणी के साथ भी उसकी सहानुभूति थी। उसने सब के साथ दया-भाव प्रकट किया। जब तक जिया दूसरों के कष्ट-मोचन और दुःख-निवारण में लगा रहा, पर अपने लिए किसी फल का इच्छुक नहीं हुआ। यही कर्मयोग का उच्च आदर्श है। इसमें न कोई स्वार्थ है और न निज का कोई उद्देश है। इतिहास पुकार पुकार कर कह रहा है कि बुद्ध जैसा निःस्वार्थ, त्यागी, सच्चा कर्म-योगी, महापुरुष संसार ने अब तक उत्पन्न नहीं किया। वह पहला मनुष्य था, जो कहा करता था कि "प्राचीन पुस्तकों की आज्ञाओं पर केवल उनके प्राचीन होने के कारण विश्वास न करो, अपने जातीय सिद्धान्तों पर केवल जातीयता के विचार से विश्वास न करो; किन्तु उनको बुद्धि की तुला पर तोल कर देखो; तर्क और

युक्ति की कसौटी में परखो। यदि उनमें भलाई और सचाई है तो स्वीकार करो और उन पर विश्वास करो। और उन्हीं के अनुसार अपना जीवन बनाओ। अपने मन, वचन और कर्म को एक बनाओ और उनके द्वारा दूसरों की सहायता करो।" बस यही गौतम-बुद्ध की शिक्षा है और यही कर्मयोग का सब से उच्च आदर्श है।